भारत सावित्री

खण्ड ३

१९६८

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
वाराणसी

प्रकाशकीय

'भारत सावित्री' का यह तीसरा और अन्तिम खण्ड प्रकाशित करते हुए जहा हमे हर्ष होता है, वहा दुख भी। हर्ष इसलिए कि यह पुस्तक-माला पूर्ण हो रही है और अब इन पुस्तको द्वारा पाठक सम्पूर्ण महाभारत के अध्ययन की आधार-भूत सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। दुख इसलिए कि इस पुस्तक-माला के विद्वान् लेखक अब इस संसार मे नही है। तीसरे खण्ड की पाण्डुलिपि उन्होने अपनी रुग्णावस्था मे तैयार करके हमारे पास भेज दी थी, लेकिन उसके तत्काल बाद ही उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गई। आज जब यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है, हमे बार-बार उनका स्मरण हो रहा है। हम उनकी स्मृति को अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते है।

महाभारत ज्ञान का भण्डार है। उसमे विचार-रत्नो की खान है। उसका सारगर्भित अध्ययन पाठको को 'भारत सावित्री' के इन तीनो खण्डो में मिल जाता है। पहले खण्ड मे महाभारत के आदि-पर्व से विराट-पर्व तक का सार आ गया है, दूसरे मे उद्योग-पर्व से स्त्री-पर्व तक का और इस अतिम खण्ड मे शाति-पव से स्वर्गारोहण-पर्व तक का।

हिन्दी मे यह अपने ढग का पहला प्रकाशन है। इसकी सामग्री न केवल रोचक है, अपितु अधिकारी व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत की जाने के कारण प्रामाणिक भी। यह पाठको को महाभारत के सूक्ष्म अध्ययन के लिए नई प्रेरणा देती है।

हमे विश्वास है कि इस ग्रथ का अध्ययन पाठको के लिए लाभदायक सिद्ध होगा।

—मंत्री

भूमिका

'भारत सावित्री' नाम से महाभारत की एक सांस्कृतिक व्याख्या लिखने का आरम्भ मैंने लगभग दस वर्ष पूर्व किया था। उस अध्ययन को तीन खंडों में समाप्त करने की मेरी योजना थी। तदनुसार पहला खंड आदि, सभा, आरण्यक और विराट पर्व की व्याख्या के रूप में सन् १९५७ में प्रकाशित हुआ। फिर दूसरा खंड उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक तथा स्त्रीपर्व की व्याख्या के रूप में सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ। आज दो वर्ष बाद ज्येष्ठ पूर्णिमा को इसका तीसरा खंड समाप्त कर सका। अब इस तीसरे खण्ड में शेष सात पर्वों की व्याख्या पूरी होगी। उनके नाम, अध्यायों और श्लोकों की संख्या इस प्रकार है :

क्र० सं०	अध्याय	श्लोक
१२ शान्ति पर्व	३३९ अ	१४५२५
१३ अनुशासन पर्व	१४६	६७००
१४. आश्वमेधिक पर्व	१३३	३३२०
१५ आश्रमवासिक पर्व	४२	१५०६
१६. मौसल पर्व	८	३००
१७ महाप्रास्थानिक पर्व	३	१२०
१८. स्वर्गारोहण पर्व	५	२००
योग	६७६	२६६७१

ऊपर की संख्याएँ पूना के संशोधित संस्करण के अनुसार हैं। इस प्रकार महाभारत के लगभग एक-तिहाई अंश का व्याख्यासार यहाँ रहेगा।

इस खंड में मैंने अपने स्वास्थ्य के कारण बहुत कष्ट पाया। कभी तो [illegible] लिखने में मुझे शय्याशील बना दिया। पर सौभाग्य

से मेरा चितन और लेखन-कार्य रुका नही । लगता है, मेरे पूर्व [illegible] ब्रह्मशक्ति मुझे इस मार्ग पर आगे वढाती रही और पंचभूत अहंकार एवं महत् तत्त्व का यह शकट आगे वढने की प्रेरणा पाता रहा । मेरे डाक्टर मित्र ने मुझसे कहा—"तुम अपना धधा मत छोडो । तुम्हे इसी मार्ग से वरावर स्वास्थ्य की तरंगें मिलती रहेगी ।" इसे वह ऑकूपेशनल थिरैपी अर्थात् धधा करते हुए स्वास्थ्य साधन की प्रक्रिया कहते है । यह नाम वडा सुदर है और मैने जबसे इसे सुना है, यह मेरे मन मे घर कर गया है । इसमे बहुत अधिक सत्याश है । इसका मै स्वय अनुभवी हूँ । आज मुझे सतोप है कि 'भारत सावित्री' का यह तीसरा खंड मै समाप्त कर पाया ।

जिन पाठको ने इस ग्रथ को देखा है, उन्होने महाभारत मे भरे हुए गभीर दार्शनिक, धार्मिक एवं सास्कृतिक अर्थो के प्रति अपनी प्रसन्नता प्रकट की है । मुझे स्वयं भी पहले अनुमान न था कि अर्थो के ऐसे स्वच्छ मानसरोवर इस संहिता मे भरे हुए है । मुझसे जो वन पडा, उतना अर्थोद्धार मैने लिखवाया है । अधिक मै नही कर सका, इसके लिए पाठको से साजलि क्षमा याचना करता हूं । किसी समय सासानी धर्म के संवंध मे मैने जो सामग्री एकत्र की थी और ग्रथो मे निशान लगाकर रख दी थी, उसका पूरा उपयोग करने से अव मै वचित रह गया । इस पर पूरा प्रकाश डालने के लिए सासानी धर्म की पहलवी भापा मे अच्छी जानकारी होनी चाहिए । वे पुस्तकें तो मेरे पास थी, किन्तु अपनी नेत्र-शक्ति कम होने के कारण मै उनसे लाभ न उठा सका । अव मेरी नम्र प्रार्थना है कि पहलवी भापा और संस्कृत भाषा के कोई सुलझे विद्वान्, नारायणीय पर्व के तुलनात्मक अध्ययन को और आगे ले चलें । यह प्रकरण कुछ छोटा नही है । इसमे लगभग एक सहस्र श्लोक है और एक वात को कई बार कहा गया है । नारदजी ने श्वेतद्वीप मे क्या सीखा और वहाँ अहुरमज्द या देव हरिमेधस धर्म के विपय मे उन्हे क्या वताया गया, इसका लवा वर्णन कई वार सस्कृत के श्लोको में आया है, पर मै उससे पार न पा सका । देव हरि-मेधस, सप्त चित्र शिखडिन् मुनि या अमेसस्पन्द, ऋता देविसरस्वती या

अनवच्छिन्न मर्यादा, २१ यजत, चन्द्रवर्चस पुरुष, फेनपान करने वाले फेनपानार्य, प्रवर, नृगन और सुकर्म के ईरानी सिद्धांत एवं कई अन्य परिभाषाएं स्पष्टता से मेरे सामने आई हैं और मैंने उनकी व्याख्या का प्रयत्न किया। किन्तु मेरा अनुमान है कि और भी अनेक परिभाषाएं नारायणीय पर्व में छिपी हैं। पारसी और भागवत धर्म का यह समन्वयात्मक प्रयत्न किस समय हुआ होगा, इस विषय में कुछ सम्भव अनुमान लगाया जा सकता है। हमें भारतीय इतिहास से पक्का पता है कि कनिष्क के राज्यकाल में बहुत से ईरानी देवताओं के नाम सिक्कों पर आ गए। यह घटना कुछ छोटी न थी, किन्तु धार्मिक जगत में कुछ सोचकर ही इस प्रकार का निर्णय किया गया होगा। निश्चय है कि कनिष्क जैसे महान मस्तिष्क ने इस प्रकार का लोकप्रिय निश्चय किया, जिसका प्रचार घर-घर में हो गया। राजाओं के महलों और रंकों की झोंपड़ी में, गांवों और नगरों में, राष्ट्रीय मिहिर का प्रचार देखा जाता है। प्रथम शती ई० सन् ७८ से लेकर १७८ के बीच में हम इस प्रकार के धार्मिक आंदोलन की कल्पना

और महाभारत की साक्षी के पीछे कोई ऐतिहासिक तथ्य रहा हो । [illegible] तो निश्चय है कि भागवतों के नारायणीय धर्म और देव हरिमेधस के धर्म को बहुत निकट से जाननेवाले किसी प्रतिभाशाली लेखक ने इस सामग्री को श्लोकबद्ध किया । हो सकता है कि जो अर्थ आज मैं नही देख सका हूं, उसे कल का कोई अन्वेषणशील विद्वान् अधिक स्पष्टता से देख सके ।

शांति-पर्व के राजधर्म-पर्व और आपद्धर्म-पर्व की सामग्री मे छान-बीन की अपेक्षा है । इसमे प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का सूक्ष्म विवेचन है और उसके अर्थानुसंधान के लिए बहुत धैर्य की आवश्यकता है । विशेषतः चाणक्य-कृत अर्थशास्त्र और मानव-धर्मशास्त्र इन दो ग्रंथो की सामग्री को शांति-पर्व के साथ मिलाकर देखना होगा । मोक्षधर्म-पर्व के लगभग डेढ सौ अध्याय भारतीय धार्मिक साहित्य मे अपना अद्वितीय स्थान रखते हैं । प्राचीन धार्मिक मतों का जैसा संग्रह यहा है वैसा उपनिषद् युग और बौद्ध साहित्य मे भी नही है । जैन और बौद्ध साहित्य मे लगभग ढाई सौ दिट्ठियो का उल्लेख आता है और मेरा अनुमान है कि उनकी सूक्ष्म सूची मोक्षधर्म पर्व से प्राप्त की जा सकती है । मोक्ष प्राप्ति के जो उपाय हैं, उन्हें मोक्षधर्म कहते थे । उस समय एक-एक आचार्य कई-कई धर्मो या मतो का प्रतिपादन करता था । किसने कहाँ से कितना लिया, इसका पूरा लेखा-जोखा कठिन कार्य है । इसके लिए बौद्ध साहित्य की गहरी छान-बीन आवश्यक है, क्योकि बुद्ध ने भी अपने समसामयिक आचार्यों के मतो से कुछ कम सामग्री नही ली । वह स्वयं उस समय के गणी आचार्य और इस प्रकार की सामग्री लेने मे अपने को स्वतंत्र मानते थे । कौन किस-किस मत का अनुयायी है, यह उसकी प्रज्ञा पर निर्भर था । श्वेताश्वतर उपनिषद् के आरंभ मे स्पष्ट लिखा है कि उस समय के जो मत थे उनमें से एक दो या अनेक के शब्दों का संयोग किया जाता था । वस्तुतः धर्ममोक्ष-पर्व इसका प्रमाण है । हमारी इच्छा है कि कोई दार्शनिक विद्वान् इस अध्ययन को वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित करे ।

ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा, सं० २०२३

ता० ३-६-६६

—वासुदेवशरण अग्रवाल

विषय-सूची

आपद्धर्म

नारायणीय पर्व

१३. अनुशासन पर्व

१४. आश्वमेधिक पर्व

१५. आश्रमवासिक पर्व

१६. मौसल पर्व

१७. महाप्रस्थानिक पर्व

१८. स्वर्गारोहणपर्व

परिशिष्ट

भारत-सावित्री

तृतीय खण्ड

: ६८ :

बारहवाँ शान्ति पर्व

महाभारत के १८ पर्वो मे शान्ति पर्व का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। वह विस्तार में भी सबसे बडा है। इसमे तीन अवान्तर पर्व है। राजधर्म १ से १२८ अध्याय, आपद्धर्म पर्व १२९ अध्याय से १६७ अध्याय तक और मोक्षधर्म १६८ से ३५३ अध्याय तक है। इनमे भी मोक्षधर्म पर्व के लगभग दो सौ अध्याय प्राचीन भारतीय दर्शन और धर्म की वहुविध सामग्री की निधि हैं। अकेला नारायणी पर्व ही एक सहस्र श्लोकों मे है, जिसमें पञ्चरात्र भागवत धर्म का सविस्तर वर्णन है। उससे पूर्व के कितने ही अध्यायो मे कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद आदि कितने ही मतो का जैसा वर्णन है वैसा अन्यत्र वौद्ध साहित्य में भी प्राप्त नही होता। जैसा हम कहेंगे, इन अध्यायो में प्राचीन भारत के धार्मिक इतिहास की तीन तहे सुरक्षित है। पहली तह में विभिन्न तत्त्व-चिन्तको के पृथक्-पृथक् मत, उसके अनन्तर दूसरी तह मे सांख्य आदि दर्शनो की सामग्री और तीसरी तह मे शैव एवं पञ्चरात्र भागवत धर्मो की सामग्री है। शान्तिपर्व की शैली और शब्दावली महाभारत के अन्य पर्वो से विशिष्ट है। उस पर विशेष ध्यान देना होगा। तभी शान्ति पर्व मे एवं विशेषतया मोक्षधर्म मे निगूढ अर्थो का विकास किया जा सकेगा।

राजधर्म पर्व

कर्णाभिज्ञान

(अ० १—६)

भारत-युद्ध में जो सगे-सम्बन्धी मारे गये थे उन्हे युधिष्ठिर आदि पाण्डवो ने हस्तिनापुर से बाहर गगा के किनारे जलाञ्जलि दी। एक मास बाद युधिष्ठिर ने नगर में प्रवेश किया तब बहुत से वैदिक विद्वान् और ऋषि-मुनि उनसे मिलने आये। उनमें नारद ने युधिष्ठिर से पूछा, "आपकी युद्ध में जीत हुई। अब आप प्रसन्न है ?" इस सीधे सरल प्रश्न के उत्तर मे युधिष्ठिर ने कहा, "मेरे लिए यह जीत हार के समान हो गई है। मै इससे बहुत दु खी हूँ। पाच पुत्रो को खोकर द्रौपदी मुझसे क्या कहेगी ? अभिमन्यु को खोकर मै सुभद्रा को क्या मुख दिखलाऊँगा ? मेरे मन को कचोटनेवाली दूसरी बात यह है कि मा कुन्ती ने भी मुझसे यह बात छिपाइ और पहले नही बताया कि कर्ण उसी का ज्येष्ठ पुत्र था, जो सूर्य से उत्पन्न हुआ था। उसके राधापुत्र होने की बात कहानी मात्र थी। यदि मै पहले जानता कि कर्ण मेरा बडा भाई है, तो मै कभी रण में उसका वध न होने देता। इमका मेरे चित्त में बहुत दु ख है। सुनता हूं, माता कुन्ती ने कर्ण को बहुत समझाया था कि हमारे विरुद्ध युद्ध न करे, पर उस सत्यवादी वीर ने दुर्योधन का साथ छोडना स्वीकार नही किया। केवल यही कहा कि मै पाँच पाण्डवो में से एक को छोडकर शेष चार को न मारूँगा। ये सब बातें मुझे पहले ज्ञात न थी। हाँ, अब मुझे याद आता है कि जब मैंने कर्ण को द्यूत-सभा में देखा था तो मुझे उसके पैर कुन्ती के पैरो से बहुत मिलते हुए जान पडे थे। कर्ण को देखकर मेरे मन का क्रोध शान्त हो जाया करता था। रणभूमि में उसके रथ के पहिये को पृथिवी ग्रस लेती थी। कर्ण को यह शाप कैसे मिला ? यह मै जानना चाहता हूँ।"

नारद ने उत्तर दिया, "कर्ण का जन्म कुन्ती की कन्यावस्था में ही हुआ था। वह वल मे भीम और अर्जुन के तुल्य, बुद्धि मे आपके समान और विनय मे नकुल-सहदेव जैसा था। बालपन मे ही उसकी दुर्योधन से मित्रता हो गई थी। शस्त्रो का अभ्यास करते समय उसने द्रोण से ब्रह्मास्त्र सिखाने की प्रार्थना की थी, पर द्रोण ने यह कहकर टाल दिया कि ब्रह्मास्त्र केवल ब्राह्मण ही सीख सकता है। इस पर कर्ण महेन्द्र पर्वत पर रहने वाले परशुरामजी के पास गया। पूछने पर उसने अपने को भार्गव ब्राह्मण वतलाया। परशुराम ने गोत्रादि के विषय में पक्की पूछ-ताछ करके उसे शिष्य वना लिया। वहाँ एक दिन समुद्र-तट पर घूमते हुए कर्ण ने किसी ब्राह्मण की गौ को अनजान मे वाण से मार दिया। उसने अनुनय-विनय से ब्राह्मण को प्रसन्न करना चाहा, किन्तु किसी प्रकार भी उसका क्रोध शान्त नही हुआ और उसने शाप दे दिया कि जव तुम युद्ध मे उतरोगे तो तुम्हारे रथ का पहिया जमीन मे धँस जायगा। शाप से भयभीत कर्ण परशुराम के पास आया और उसने शस्त्र-विद्या का पूरा अभ्यास कर लिया। एक दिन उपवास रहने से कृश भार्गव राम कर्ण की गोद मे सिर रख कर सोए हुए थे। तभी किसी दारुण कीडे ने नीचे से कर्ण की जाघ मे छेद कर दिया। पर कर्ण टस-से-मस न हुआ। रक्त के वहने से गुरु की निद्रा खुल गई। उन्होंने सव हाल देखा और कर्ण से क्रुद्ध होकर पूछा कि किसी ब्राह्मण मे इतना धैर्य नही हो सकता, सच वताओ तुम कौन हो ? कर्ण ने शाप के डर से वात खोलते हुए कहा, "मैने शस्त्र सीखने के लोभ से अपने को ब्राह्मण वतलाया था, किन्तु मैं ब्रह्म-छत्र-वंशी सूत का पुत्र हूँ।" यह सुनकर परशुराम वोले, "अच्छा, तूने ब्रह्मास्त्र सीख लिया, किन्तु युद्ध-भूमि में जव वध का समय आयेगा तव तेरा ब्रह्मास्त्र सफल न होगा। और, अव तू चला जा, इधर लौट कर कभी पैर न रखना।" लाचार कर्ण सीधा दुर्योधन के पास आया। कुछ दिन वाद दुर्योधन ने सुना कि कलिंग के राजा चित्राङ्गद की कन्या का स्वयंवर है। दुर्योधन कर्ण को साथ लेकर

वहाँ गया। स्वयवर में कर्ण ने सब राजाओ को जीतकर कन्या प्राप्त कर ली और दुर्योधन के साथ हस्तिनापुर लौट आया।

"मगध के राजा जरासंध ने कलिङ्ग के स्वयवर मे अपनी आँखो से कर्ण का पराक्रम देखा था। उसका माथा कुछ ठनका और उसने घर लौटकर कर्ण को युद्ध के लिए ललकारा। पर बाहु-युद्ध में कर्ण से पार न पाकर उसने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कर्ण को अङ्गदेश की मालिनी-पुरी का राज्य दे दिया। यह चम्पा का दूसरा नाम था। कर्ण वहाँ स्वतन्त्र राजा के रूप मे राज्य करने लगा। पर कर्ण का दुर्भाग्य तो कई शापो के रूप मे उसके पीछे लगा ही हुआ था, जैसे प्रतिकूल भाग्य पुरुषार्थवादी किसी महामानव के पीछे लगा हुआ हो। ब्राह्मण का शाप और गुरु का शाप तो था ही, उस पर देवराज इन्द्र ब्राह्मण के वेश मे आकर उससे उसके सहज कुण्डल और कवच भी माँग ले गए। पर दानी और पराक्रमी कर्ण भाग्य से आँख मिलाकर अपने ही पैरो की दृढ भूमि पर खडा हो गया। उसके साथ आगे जो घटनाएँ घटी, उन्हें हम देख ही चुके है।"

•

: ६९ :

युधिष्ठिर निर्वेद

'युधिष्ठिर का मन दु ख और शोक से भरा हुआ था। उन्होने अर्जुन को बुलाकर जी बहलाना चाहा, पर उल्टे वह क्षात्र धर्म को ही कोसने लगे और वन में रहने वाले मुनियो के क्षमा, दम, शौच, अविरोध, अमत्सर, अहिंसा, सत्यवचन आदि धर्मो की प्रशसा करने लगे। उन्होने कहा कि लोभ और मान के चक्कर मे पडकर वे राज्य का लवलेश चाहते

हुए इस आपत्ति मे फँस गए। युधिष्ठिर की बडी विचित्र प्रकृति थी। वह अवसर पर चूक जाते और फिर पीछे पछताते थे। वह समय पर अपने कर्त्तव्य को ओझल करके दूसरे के कर्त्तव्य की चिन्ता मे भटक जाते थे। उन्होने मानों अर्जुन की ही गीता वाली भाषा मे कहा, "त्रैलोक्य का राज्य भी हमे प्रसन्न नही कर सकता। पृथिवी के लिए हमने अपने बन्धु-बान्धवो के वध का पाप किया है। जैसे कुत्ते मांस के लिए झगड़ते है, वैसे ही हमने राज्य के लिए किया। हम ही इन लोगों के विनाश के कारण हुए। अपने इस पाप कर्म से हम नरक मे जायँगे। हे अर्जुन, अब मै तुम सबसे बिदा लेकर वन मे चला जाऊँगा। यह राज्य और भोग मुझे नही चाहिए।" अर्जुन ने युधिष्ठिर के इन वचनो को अपने लिए व्यग्य और कटाक्ष समझा। उसने उत्तर मे कहा, "वाह, कैसा दु:ख है, कैसा कष्ट है जिसके कारण धर्म से प्राप्त पृथिवी को त्याग कर वन मे चले जाने की बात सोची जाती है? नपुंसक और दीर्घसूत्री के लिए राज्य कैसा? क्यो क्रोध मे भरकर राजाओ को मारा? यदि इसी प्रकार भिक्षा मागकर जीने की इच्छा थी, और राजा के लिए निन्दित खप्पर हाथ मे लेकर भोजन करने की कापाली वृत्ति को अपनाना था, तो युद्ध का मंडान क्यो किया? और लोग क्या कहेगे? अपने स्वस्ति-भाव का नाश करके अकिञ्चन बनकर वन मे जाने की क्या तुक है?

"धर्म और अर्थ का त्याग करके वन के लिए प्रस्थान मूढता है। पहले राजा नहुष कह गये है कि जीवन मे आकिञ्चन्य किसी भी प्रकार प्रशंसनीय आदर्श नही है। लोक मे दरिद्रता बडा पाप है। आप कैसे उसकी बडाई करते है? सब क्रियाएँ धन से ही होती है। जैसे नदियाँ पर्वत की चोटी से बहती है, उसी प्रकार अर्थ के बिना लोक की प्राणयात्रा सिद्ध नही होती। धन को धन खीच लाता है, जैसे महागज गज को। धर्म, काम और स्वर्ग सब अर्थ से ही होते है। जो अश्वो से कृश, गौओं से कृश और अतिथियो से कृश है वही कृश है। शरीर से कृश कृश नही कहलाता—

यः कृशाश्वः कृशगव कृशभृत्यः कृशातिथिः ।
स वै राजन्कृशो नाम न शरीरकृशः कृशः ॥
(१२।८।२४)

"धन को दूसरो के वश से अपने वश में लाये विना काम नही चलता। वेदो के जितने आदेश है वे विना धन के पूरे नही होते। अर्थात् दान, तप, स्वाध्याय धन से ही सधते हैं।

"आपके लिए अब द्रव्यमय यज्ञ करने का समय आया है। वह धन से ही सभव है।

"यह पृथिवी नृग, दिलीप, नहुप, अम्बरीप, मान्धाता के पास जैसे थी वैसे ही आपके पाम आई है। इसके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कीजिये। मेरी समझ से धन से धर्मपूर्वक राज्य करना ही श्लाघ्य है। जो राजा अश्वमेध से यजन करता है वह उसके अवभृथ स्नान से अपने को पवित्र बनाता है।"

अर्जुन के सुनिश्चित वचन सुनकर भी युधिष्ठिर ने वनस्थ मुनियो के धनो का ही बखान किया, "वन मे हम कन्दमूल-फल खायेंगे, स्वच्छन्द विचरने वाले हिरनो के समान पानी पियेंगे। वहाँ के वृक्ष और लताओ के फूलो का सुगन्धि हमें मिलेगी। वन मे नाना भाँति के रमणीय वृक्ष हमे देखने को मिलेंगे। वानप्रस्थ कुलवासी जनो का दर्शन मिलेगा। ग्रामवासियो का कुछ भी अप्रिय मुझसे न होगा।"

अर्जुन ने युधिष्ठिर को समझाने के लिए प्राचीन अर्थशास्त्रियो का अर्थप्रधान दृष्टिकोण अपनाया था, पर युधिष्ठिर पर उसका कोई असर न हुआ। अर्थशास्त्र के इस दृष्टिकोण में गृहस्थ की अधिक महिमा थी। तराजू के पलडे पर यदि एक ओर तीन आश्रमो को रक्खा जाय तो गृहस्थ आश्रम का पलडा भारी बैठेगा—

आश्रमांस्तुलया सर्वान्धृतानाहुर्मनीषिणः ।
एकतस्ते त्रयो राजन्गृहस्थाश्रम एकत· ॥
(१२।१२।११)

नकुल ने कहा, "गृहस्थ के मार्ग से ही त्रिवर्ग का फल प्राप्त होता है। गृहस्थ धर्म से ही यज्ञो का अनुष्ठान संभव है। गृहस्थ धर्म दुष्कर एवं दुर्लभ है। राज्य ग्रहण करके उसके प्रति जो उपेक्षा करता है, दस्यु उसकी प्रजा का उत्पीडन करते है। इससे राजा को नरक मिलता है। भीतर और बाहर की जितनी वस्तुओ मे मन आसक्त रहता है, उनसे उसको हटाकर ही मनुष्य सच्चा त्यागी बनता है। उन्हें छोड़कर वन को चल देने से त्याग नही होता। क्षात्र धर्म से और पराक्रम से पृथिवी को जीतकर राजा नाकपृष्ठ या स्वर्ग मे आरूढ़ होता है। अतः हे युधिष्ठिर, तुम्हे शोक न करना चाहिए।"

नकुल के बाद सहदेव ने युधिष्ठिर के सामने अपना दृष्टिकोण रक्खा। उसने भी स्थूल वस्तुओं के त्याग की अपेक्षा मन के सूक्ष्म परिवर्तन को ही अच्छा समझा। 'न मम' इन तीन अक्षरो की भावना से शाश्वत ब्रह्म या नित्य ब्रह्म की प्राप्ति होती है। स्थूल वस्तुओं में और शरीर से चिपटे रहना ठीक नही। पृथिवी को प्राप्त करके जो उसका भोग नहीं प्राप्त करता उसका जीवन निष्फल है।

इसके बाद द्रौपदी ने युधिष्ठिर की मति फेरने का प्रयत्न किया। द्रौपदी को धर्मदर्शिनी तथा युधिष्ठिर के प्रति अभिमानवती कहा गया है। उसने कहा, "हे राजन्, क्लीब नही होना चाहिए। विना दण्ड के कुछ नही होता। दान, स्वाध्याय, तप, स्वभूतो में मैत्री ये सव ब्राह्मणो के लिए है, राजाओ के लिए नही। यह पृथिवी तुम्हे दान मे नही मिली, न तुमने इसे घूस देकर प्राप्त किया। तुमने वड़े-वडे वीरों को पछाड कर इसे पाया है। नाना जनपदों से युक्त इस जम्बूद्वीप को तुमने दण्ड की शक्ति से मोड डाला है (१४।२१)। अब सुखपूर्वक प्रजाओं का पालन करो। मै स्त्री हूँ, मुझे शत्रुओ ने सताया, अतः मेरी वात पर विशेप ध्यान दो।"

द्रौपदी जव अपनी बात कह चुकी तव अर्जुन ने दण्ड की महिमा कही, "दण्ड ही प्रजाओं की रक्षा करता है। सोनेवालो को दण्ड जगाता

है। अत दण्ड को ही धर्म कहते है। दण्ड ही काम की रक्षा करता है। दण्ड ही त्रिवर्ग का दूसरा नाम है। दण्ड से अन्न और धन की रक्षा होती है। लोक का यही स्वभाव है। अत यह जानकर दण्ड का आश्रय लीजिये। राजदण्ड के भय से पापी पाप नही करते।[1]

"इस प्रकार की ससिद्धिवाले लोक में सब कुछ दण्ड के अधीन है। दण्ड के भय से ही लोग एक दूसरे को खा नही जाते। यदि दण्ड पालन न करे तो सब कुछ घोर अन्धकार मे डूब जाय। जो दबे नही है दण्ड उनका दमन करता है और जो गुडे है उन्हे डाँडता है। इन्हीं दो दृष्टियो से दण्ड दण्ड है। ब्राह्मणो का दण्ड वाणी है, क्षत्रियो का दण्ड बाहुबल है। वैश्य दान देते रहें, यही उनका दण्ड है। जिसके पास कोई दण्ड नही, वही शूद्र है। लोक मे व्यवहार की मेड (मर्यादा) को ही दण्ड कहते है। जहाँ काला भुजग, लाल-लाल आँखो वाला दण्ड घूमता है, वहाँ प्रजाएँ धोखा नही खाती बशर्ते न्याय करने वाले की निगाह ठीक हो। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और भिक्षुक ये दण्ड के भय से ही अपने-अपने मार्ग में स्थित रहते है। बिना भय के न कोई यज्ञ करता है, न दान देना चाहता है। बिना भय के कोई अपने बन्धेज और समझौते को पूरा नही करना चाहता। बिना दण्ड के न कीर्ति होती है, न धन और न ही प्रजा। इन्द्र वृत्र का वध करके ही महेन्द्र बना। जो देवता दण्ड देते है उन्हें लोक बहुत पूजता है। रुद्र, स्कन्द, चक्र, अग्नि, यम, काल, वायु, वैश्रवण, सूर्य और वसु ऐसे ही देवता है जिनका अनादर करो तो वे हनन कर देते हैं। लोक मे अहिंसा से रहते मैं

---

१ दण्ड. शास्ति प्रजा. सर्वा, दण्ड सर्वाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधा. ॥ २ ॥ अ० १५
धर्मं संरक्षते दण्डस्थैवार्थं नराधिप।
काम संरक्षते दण्डस्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते ॥ ३ ॥
दण्डेन रक्ष्यते धान्य धनं दण्डेन रक्ष्यते।
एतद्विद्वन्नुपादत्स्व स्वभावं पश्य लौकिकम् ॥ ४ ॥

किसी को जीवित नही देखता। वलवान् निर्वलों को खा जाते है। नेवला चूहो को और विलाव नेवलो को खा जाता है। विलाव को कुत्ता और कुत्ते को वाघ खा डालता है। मनुष्य सबको खा जाता है, यही वात चली आई है। सव कुछ चराचर वस्तुएँ प्राण का भोजन है। यही देव का वनाया हुआ विधान है। विद्वान् को इससे मोह नही होता। हे राजन्, आपको ब्रह्मा ने जैसा वनाया है वैसा ही होने का यत्न कीजिये। शुद्ध अहिंसा है ही कहाँ? पलक मारने से भी सूक्ष्म कीटाणु मर जाते हैं। जल और फलों में भी कीटाणु होते हैं। पेड-पौधो मे क्या जीव नही? इसलिए कोरमकोर अहिंसावादी की वात हम नही मान सकते। हमे संसार को साथ लेकर चलना है। दण्डनीति के चलने से ही सव प्राणी चलते है, इसमे हमें सदेह नही। लोक में दण्ड न हो तो ये प्रजाएँ नष्ट हो जायँ। प्रजापति ने आरम्भ मे ही ठीक कहा था कि साधु-प्रयुक्त दण्ड ही प्रजाओ की रक्षा करता है। अग्नि भी दण्ड के भय से जलती है। साधु असाधु को अलग रखने वाला दण्ड न हो तो सव कुछ घोर अन्धकार में डूव जाय। जो नास्तिक और वेदनिन्दक है, वे दण्ड से ही वश मे रहते है। सव लोग दण्ड के वश है। अपने आप शुद्ध रहने वाला व्यक्ति दुर्लभ है। धर्म और अर्थ की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने दण्ड वनाया है। यदि दण्ड का भय न हो तो पक्षी और कुत्ते ही पशु और मनुष्यो को खा डालें। न तो ब्रह्मचारी पढ सके और न कल्याणी गाय दुही जा सके और न कन्या का व्याह ही हो सके, यदि दण्ड सवका पालन करने वाला न हो। विश्व का लोप होने लगे, सव सेतु या मर्यादाएँ टूट जायँ, किसी वस्तु मे अपनापन न रह जाय, यदि दण्ड पालन न करे। वर्ष भर के यज्ञ निर्भय भाव से न चल सकें, उनमे विधिवत् दक्षिणा न दी जा सके, यदि दण्ड रक्षक न हो। आश्रमों मे विद्याध्ययन के नियम न चल सकें, यदि दण्ड पालक न हो। ऊँट, गधे, घोडे, वैल यानो मे जोते जा कर उन्हे न ले जा सकें, यदि दण्ड न हो। भृत्य आज्ञा का पालन न करे और पुत्र पिता के धर्म मे न रहे, यदि दण्ड पालक न हो। सव लोग

दण्ड की नीव पर खडे है। भय का नाम ही दण्ड है। दण्ड ही लोक का स्वर्ग है। वहाँ छल-कपट नही दिखाई पडता, जहाँ सुविहित रूप में दण्ड का पालन किया जाय। यदि हाथ में ऊचा डण्डा न हो, तो कुत्ता यज्ञ की हवि को खा जाय। कौआ पुरोडाश को उठा ले जाय, यदि दण्ड न हो। धन के अधीन जीवन है और धन दण्ड के अधीन है। यह दण्ड का वडा गौरव है। लोकयात्रा के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है। साधु मार्ग की हिंसा भी अहिंसा है। इस रूप मे धर्म का आश्रय ही श्रेयस्कर है। न कोई सर्वथा गुणवान् है, न कोई सर्वथा निर्गुण। कारण पाकर सभी साधु या असाधु हो जाते है।

'हम देखते है कि लोक में पशुओ को वधिया करके उनकी नाक छेद देते है ओर उनसे वोझा ढुलाते है। उन्हे बाधते और उनका दमन करते है। इस प्रकार लोक में वहुत-सी धीगा-धींगी है। उन्ही से पुराना धर्म या दस्तूरुल अमल वना है। हे राजन्, यज्ञ करो, दान दो, प्रजा की रक्षा करो, धर्म का पालन करो, शत्रुओ का नाश करो, मित्रो का पालन करो। शत्रुओ का नाश करते हुए मन में क्रोध मत आने दो तव तुम्हें कोई पाप न लगेगा। जो कोई अपनी ओर आते हुए आततायी को मार देता है, उसे पाप नही लगता। वह तो मन्यु द्वारा मन्यु को काट डालने के समान है। सर्वसमत सिद्धान्त है कि सवका अन्तरात्मा अवध्य है, पर कभी-कभी उसका वध अनिवार्य हो जाता है। जैसे पुरुष नये घर में प्रवेश करता है ऐसे ही मनुष्य नया शरीर ले लेता है। तत्त्वदर्शी मनुष्य मृत्यु की इसी प्रकार व्याख्या करते है। एक देह को छोडकर दूसरी में जाना घर वदलने या वस्त्र वदलने के समान है।" इस प्रकार अर्जुन ने राज-शास्त्र के भय और दण्ड-सम्बन्धी सिद्धान्तो की सहायता से युधिष्ठिर को समझाने का प्रयत्न किया। राजशास्त्र की युक्तियाँ अर्थशास्त्र की ही परिशिष्ट मानी जाती थी।

अर्जुन के अनन्तर भीमसेन ने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर से कहा, "हे राजन्, आप स्वय विदितधर्मा है। कुछ भी आपको अज्ञात नही है।

इसीलिए मै सोचता हूँ कि आपको सिखावन दूं या नही। पर अति दु:खी होने के कारण मैं कहूँगा ही। कृपया आप सुनें। आपके इस मोह ने तो हमारा सब कुछ बना-बनाया काम बिगाड डाला। लोक की गति, आगति, तदात्व (वर्तमान दशा) और आयति (भावी दशा)—आप सब जानते है। मानस व्याधि से शारीर व्याधि और शारीर व्याधि से मानस व्याधि हुआ करती है। जो बीते हुए दु:ख का शोच करता है, वह अपने लिए दु:ख से दु:ख प्राप्त कर लेता है। शीत, उष्ण और वायु इनका साम्य भाव स्वास्थ्य का लक्षण है। उनमे से कोई घट-बढ जाय तो उसका प्रतीकार किया जाता है। सत्त्व, रज, तम ये मन के तीन गुण है। आपने अनेक युद्धो के बाद विजय प्राप्त की। यदि उसका लाभ अब छोड़ देगे तो फिर जन्म लेकर उसी मार्ग पर चलना होगा। इसलिए लोकगति को देखते हुए भाग्य ने आपको जो विजय दी है, उसका लाभ उठाइये।" भीम का यह वचन कुछ-कुछ नियतिवाद का दृष्टिकोण लिए था और वे यह जानते भी थे कि युधिष्ठिर का कुछ झुकाव नियतिवाद की ओर था।

उत्तर मे युधिष्ठिर ने फिर वही यतियो के जीवन-आचार की रट लगाई, मानो राजधर्म से उन्हे कोई चिढ हो। उनकी दृष्टि मे कर्मपाश से छूटकर ही मृत्युभय से ऊपर उठना सभव था और राजधर्म अपनाने से वह संभव नही था। इस विषय मे जनक का नाम लेकर उन्होने एक गाथा सुनाई—

अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन॥

(१७।१८)

मेरे पास अनन्त धन है, फिर भी जैसे कुछ नही है। सारी मिथिला भस्म हो जाय तो भी मेरा बाल बाँका नही होता। जो व्यक्ति प्रज्ञा के महल पर पहुँच गया है, उसे संसार के दु:खों मे तपते हुए मनुष्यो का शोक नही होता।

यह गाथा धम्मपद में भी पाई जाती है, जो उस युग के प्रज्ञादर्शन का अंग थी[1]। युधिष्ठिर ने प्रज्ञादर्शन के तर्कों का आश्रय लेते हुए बुद्धि की भी प्रशसा की, जिससे उनका अभिप्राय तटस्थ और उदासीन मनोवृत्ति से ही था।

इसके वाद अर्जुन ने फिर बात शुरू करते हुए जनक का एक चरित सुनाया। उसमें अकिंचन-व्रत लेकर और सिर मुडाकर वन मे साधुओं के मार्ग का खण्डन था।

जान पडता है कि प्राचीन दर्शनो में आकिंचन्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। उसके अनुयायी सिर मुडाकर मुट्ठीभर धान्य से अपने को संतुष्ट समझते थे और कपाल मे ही भिक्षावृत्ति को महत्त्व देते थे। जनक का यह कौतुक देखकर उसकी मनस्विनी भार्या ने उन्हें वहुत फटकारा—"राज्य के सव सभारो को त्यागकर अकिंचन-व्रत धारण करने में क्या तुक है? अकिंचन यति के लिए देवता, पितर, अतिथि सब व्यर्थ हैं। आज तक तुम सवको देते रहे और अब क्या औरो से भीख माँगोगे? तुम्ही सोचो, देनेवाले और माँगनेवाले तुम्हारे रूपो में बढकर कौन सा है?" इसी प्रसग में रानी ने अन्न की महिमा का वर्णन किया, जो आकिंचन्य दर्शन की काट करनेवालो के तरकश का चोखा वाण था—"लोक में अन्न से ही गृहस्थ वनते हैं। उन्ही की भीख से भिक्षुक पलते है। अन्न से ही प्राण उत्पन्न होता है। जो अन्न का देनेवाला है वह प्राणदान देता है।[2] घर-गृहस्थी छोडनेवाले फिर गृहस्थो का ही मुँह जोहते है। साधु जहाँ से निकले उसी की निन्दा करते है। गृहस्थी छोडने से, मूड मुडा लेने से, भीख माँगने से कोई साधु नही होता। जो ऋजुभाव से धन का त्याग कर अपने को सुखी मानता है वही भिक्षु है। त्रयी विद्या और वार्ता शास्त्र

---

१ प्रज्ञाप्रासादमारुह्य न शोच्याञ्शोचतो जनान्।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थो मन्दबुद्धीनवेक्षते ॥१७।१९

२. अन्नाद्‌गृहस्था लोकेऽस्मिन्भिक्षवस्तत एव च।
अन्नात्प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत् ॥ १८।२७

को स्वीकार करके राजधर्म का पालन, यही राजा का कर्तव्य है । जो मूड़ मुडाये, गेरुआ पहने हुए धर्मध्वजी भिक्षु है, उन्होने दान बटोरने के लिए सब चौपट कर डाला है, ऐसा मेरा विचार है। तुम चाहो तो कषाय-वेशधारी, नगे, मुंडित और जटाधारी साधुओ को भिक्षा दे दो, पर तुम स्वयं वैसे न बनो ।"

महाभारत के ये कुछ श्लोक बौद्ध-जैन साधुओं पर भागवतो का प्रहार है और अर्जुन के चलाये हुए मूल प्रसंग मे यह पीछे से जोड़ा गया अंश है ।

उत्तर में युधिष्ठिर ने अर्जुन के साथ बड़ी निष्ठुर चुटकी ली, "मै वेद शास्त्रो को जानता हूँ। तुम अस्त्रधारी उन्हे क्या जानो ? शास्त्र के सूक्ष्म अर्थ को जो जानता है, वह मुझसे इस प्रकार नही कहेगा। फिर भी भाई के हित मे तुमने जो कहा उससे मै प्रसन्न हूँ। हे अर्जुन, तुम मेरी बुद्धि पर शंका न करो।"

इसके अनन्तर देवस्थान नामक तपस्वी ऋषि ने अर्जुन के ही वाक्य का समर्थन किया। यह कोई वैखानस साधु जान पड़ता है जिसने धन के विषय में अपना दृष्टिकोण रखते हुए कहा कि धन-विषयक इच्छा से (ईहते धन हेतोः) इच्छा का न होना ही अच्छा है। फिर उसने यज्ञो की ही प्रशंसा की। जीवन की चौपदी सीढी (चतुष्पदी निःश्रेणी) कर्म मार्ग से सिद्ध होती है। इन चारो को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष भी कहा जा सकता है। अथवा स्वाध्याय यज्ञ, कर्मकाण्डात्मक यज्ञ, तपोयज्ञ और ज्ञान-यज्ञ ये चार इसी सीढी के चढते हुए डण्डे है। वैखानस मतानुयायी वैदिक यज्ञों के माननेवाले थे और उनके आश्रमो में वैतान या श्रौत अग्नियो का कर्मकाण्ड भी होता था ।

इसके बाद देवस्थान ने दस विभिन्न मतो का उल्लेख किया, जिनके विषय मे विभिन्न आचार्यो का आग्रह था। कोई शम, कोई व्यायाम या संघर्ष, कोई शान्ति और संघर्ष दोनों को, कोई यज्ञ, कोई संन्यास, कोई

दान, कोई दान लेना, कोई सब कुछ छोडकर तूष्णी ध्यान, कोई राज्य और प्रजाओ का परिपालन, कोई एकान्तवास की प्रशंसा करते है। इन मतभेदो को देखकर पण्डितो ने ऐसा मत रक्खा है कि अद्रोह, सत्य, सविभाग (दान), धृति, क्षमा, अपनी स्त्रियो के साथ प्रजनन-कार्य, मृदुता (ह्री), अचपलता, धर्म के साथ धनोपार्जन यही पण्डितो के साथ स्वयम्भू मनु का भी उपदेश है। देवस्थान के इस कथन में मानव-धर्म या मनु के धर्मशास्त्र का उल्लेख है। इससे यति धर्म का स्वयं खण्डन हो जाता है। अन्तत देवस्थान ने युधिष्ठिर के लिए क्षत्रियोचित राज्य-परिपालन और यज्ञ का ही समर्थन किया। क्षत्रिय यज्ञ से बचा हुआ अन्न खाता है और राज्यशास्त्र के तत्त्व को जाननेवाला होता है। देवस्थान ने गृहस्थ-आश्रम और वानप्रस्थाश्रम दोनो के लिए ही अपना मत दिया। उसने कहा कि निर्वाण के मार्ग मे बहुत विघ्न है, उसका पूरा होना बहुत कठिन है। सभव है, देवस्थान का वचन प्रक्षिप्त हो, क्योकि इसमें निर्वाण और श्रमण मार्ग का स्पष्ट खण्डन है। पर इससे कथा प्रवाह में कोई त्रुटि नही आती। २२ वें अध्याय में अर्जुन के द्वारा राजधर्म-पोपण का प्रसग जारी रहता है।

अर्जुन की नयी उक्ति में ब्राह्मण धर्म और क्षात्र धर्म को बताकर बराबर क्षात्रधर्म-पालन और युद्ध का आग्रह किया गया है। अवश्य ही प्राचीन राज्य-शास्त्र के अन्तर्गत क्षात्र धर्म का बहुत सम्मान रहा होगा। "ब्राह्मणो के लिए तप और त्याग है। क्षत्रियो के लिए संग्राम ही धर्म है। क्षत्रिय दूसरे के धन से जीवन निर्वाह नही करता। इसलिए तुम कर्म के लिए कमर कसो। क्षत्रिय का हृदय वज्र के समान कठोर होता है। वह विजय के द्वारा अकंटक राज्य करता है। इन्द्र ब्रह्मा के पुत्र थे, परन्तु कर्म से क्षत्रिय हो गये। उन्होने अपने ही बन्धु-बान्धव ९९ असुरो का वध कर दिया, क्योकि वे पापी थे (ज्ञातीनां पापवृत्तीनां जघान नवतीर्नव)। उसका वह कर्म प्रशसनीय समझा गया और उसे इन्द्र-पद मिला। जैसे इन्द्र ने किया वैसे ही तुम भी यज्ञ करो। जो होना था सब

एक दिन लिखित शख के आश्रम मे गया। वहाँ उस समय शंख न था। लिखित ने कुछ पके फल तोडकर खा लिये। जब शंख आया तो उसने कहा कि यह तुमने अच्छा नही किया। तुम राजा सुद्युम्न के यहाँ जाकर इसका दण्ड भरो। लिखित राजा के पास गया। पहले तो राजा ने टालना चाहा, पर उसके आग्रह करने पर उसके दोनो हाथ कटवा दिये। उस समय अदत्तादान का यही दण्ड था। इस प्रकार राजा से धृतदण्ड होकर लिखित भाई के पास लौट आया। दण्ड ही क्षत्रिय का धर्म है, मूड मुडाना क्षत्रिय का धर्म नही (दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम्)।

व्यासजी ने अपना कथन जारी रखते हुए अब दो युक्तियाँ ऐसी रक्खी, जिनसे युधिष्ठिर का डावाँडोल मन भी ठहर गया। उन्होने कहा कि तुम बार-बार कहते हो कि युद्ध करके और बन्धु-बान्धवो को मारकर बहुत पाप किया, पर राजा के लिए ऐसे पाप का प्रायश्चित्त अश्वमेध-यज्ञ करने से होता है। अश्वमेध-यज्ञ हँसी-खेल नही था, उसके लिए भारी तैयारी करनी पडती थी, उसमें समय और द्रव्य भी बहुत लगता था। व्यासजी ने सोचा होगा कि इससे युधिष्ठिर का मन बहल जायगा और सचित कोप की गर्मी भी कम हो जायगी। दूसरी सलाह जो युधिष्ठिर जैसे कुल-वृद्ध को पसन्द आनेवाली थी, व्यासजी ने यह दी कि अब तो देश के सब रजवाडे तुम्हारी मुट्ठी मे आ गये है, उनकी रिक्त गद्दियो पर अपने कुटुम्ब के कुमारो का अभिषेक कर दो। यदि कुमार न हो तो कन्याओं को ही अभिषिक्त कर दो। व्यासजी का यह तीर भी ठीक निशाने पर बैठा होगा। जब एक बार व्यासजी ने अश्वमेध-यज्ञ की बात उठाई तो सबने ही बारी-बारी से उसका समर्थन किया और युधिष्ठिर को भी पिण्ड छुडाना भारी हो गया। अन्त मे उन्होने उस सलाह को भीतरी जी से स्वीकार किया।

इसी प्रसग मे व्यासजी ने प्राचीन राज्यशास्त्र के कई अंग-प्रत्यंगों का बडी कुशलता से प्रतिपादन किया। एक तो यह कि जब राजा

प्रजाओं से कर वसूल करता है, तो उसका कर्तव्य है कि चोर-डकैतों से राज्य को बचावे। राष्ट्र को मोल-भाव की वस्तु न बनाना चाहिए। तस्करो से प्रजा की पीड़ा राजा के लिए पाप है। पुरुषार्थ करने से दुष्ट वश में आते है और राजा को पाप नही लगता। व्यास जी ने कहा कि राजा हयग्रीव ने अपने यहाँ के दस्युओ का दमन करने के लिए लडाई मे अपने प्राण गवाँ दिए। उस पुण्य से वे आज भी स्वर्गलोक मे सुख से रह रहे है। यहाँ आठ श्लोको मे हयग्रीव सम्बन्धी गीत प्रस्तुत किया गया है जो संभवत· वन्दी लोग राजाओ को सुनाया करते थे। जैसा हयग्रीव नाम से स्पष्ट है इमे उदात्त शैली और शब्दावली मे गुप्त-युग में यहाँ जोडा गया।[1]

राजा का धनुष यज्ञ का यूप है, प्रत्यञ्चा रशना हैं। बाण स्रुक् है, खड्ग स्रुव है। रुधिर घृत है। रथ वेदी हैं, युद्ध अग्नि है, चार घोड़े चार होता हैं। उस यज्ञाग्नि मे शत्रुओ का हवन करके वली राजसिंह पाप से छूट जाता हैं। उस हयग्रीव राजा ने रणभूमि मे अपने प्राण त्यागकर मानो यज्ञ का अवभृथ स्नान किया। उस पुण्य से इस लोक मे यशस्वी होकर वह देवलोक मे सुख का भोग कर रहा हैं।

बुद्धिपूर्वक नीति से राष्ट्र की रक्षा करता हुआ, आत्मार्पण द्वारा यज्ञ-शील और महात्मा सब लोको को यश से व्याप्त करके वह मनस्वी हयग्रीव इस लोक मे यश और परलोक मे सुख का भोग कर रहा है। दैवी सिद्धि और मानुपी दण्डनीति के योग और न्याय के द्वारा पृथिवी का पालन करके धर्मशील और महात्मा हयग्रीव स्वर्गलोक मे सुख का उपभोग कर रहा

१. धनुर्यूपो रशना ज्या शरः स्रुक्स्रुवः खड्गो रुधिरं यत्र चाज्यम्।
रथो वेदी कामगो युद्धमग्निश्चातुर्होत्रं चतुरो वाजिमुख्याः ॥२६॥
हुत्वा तस्मिन्यज्ञवह्नावथारीन्पापान्मुक्तो राजसिंहस्तरस्वी ॥२७॥
राष्ट्रं रक्षन्बुद्धिपूर्वं नयेन, संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा।
सर्वाल्लोकान्व्याप्य कीर्त्या मनस्वी वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥२८॥
अ० २५

है। वह विद्वान्, त्यागी, श्रद्धालु कृतज्ञ राजा कर्म करके मनुष्य लोक छोडकर मेधावी विद्वानो के लोक में स्वर्ग-सुख का भोग कर रहा है। वह महात्मा वेदो की सम्यक् प्राप्ति, शास्त्रो का अध्ययन और राष्ट्र का सम्यक् पालन करके, चार वर्णो को अपने स्वधर्म मे स्थापित करके देवलोक मे सुख भोग रहा है। वह सग्रामो मे विजयी होकर प्रजाओ का पालन करके, यज्ञो में सोमपान करके और ब्राह्मणो को तृप्त करके, युक्तिपूर्वक प्रजाओ में दण्ड-धारण करके, युद्ध में अपनी आहुति देकर देवलोक में सुख से रह रहा है। जिसके श्लाघनीय चरित की सन्त और पूज्य विद्वान् प्रशसा करते है, ऐसा वह पुण्यश्लोक महात्मा राजा स्वर्ग लोक को वश में करके वीर लोक को प्राप्त हुआ।[1]

व्यास जी द्वारा युधिष्ठिर को उपदेश

युधिष्ठिर को फिर भी दु खी देखकर व्यासजी ने एक दार्शनिक दृष्टिकोण रखते हुए उन्हें फिर समझाया। इसे पर्याय-योग कहते थे और यह कालवाद का ही एक अंग था। व्यासजी का दर्शन महाभारत में कई-एक जगह कालवाद के रूप मे आया है। पर्याय-योग का साराश यह था कि कालचक्र रथ के पहिए की तरह घूमता है और उसमें सुख व दु ख बारी-बारी से आते-जाते है। न कर्म से और न शोच करने से कुछ होता है। विधाता ने काल का नियम ऐसा बनाया है कि पर्याय-योग अर्थात् अपनी बारी से सुख और दु ख, भाव और अभाव होते रहते है (कालेन सर्वं लभते मनुष्य· २६।५)। मन्त्र और औषधियाँ भी काल की अनुकूलता से ही फल देती है। न बुद्धि से कुछ होता है, न पढने-लिखने से। काल से मूर्ख भी मालामाल हो जाता है (काले मूर्खोऽपि प्राप्नोति कदाचिदर्थान् २६।६)। शिल्प और मन्त्र का कुछ भी फल अभाग्य के समय नहीं होता। भाग्य के सीधे होने पर वे सब फल देते है। काल से ही आँधी चलती है और काल से वृष्टि होती है। काल से वन मे वृक्ष

---

१. दैवीं सिद्धिं मानुषीं दण्डनीतिं, योगन्यायैः पालयित्वा महीं च।
तस्माद्राजा धर्मशीलो महात्मा, हयग्रीवो मोदते स्वर्गलोके ॥२९॥

फलते है। काल से ही कृष्ण पक्ष की रात्रियाँ आती है और काल से ही चन्द्रमा पूरा खिल जाता है। बिना काल के वृक्षो मे फूल-फल नहीं आते। बिना काल के नदियों में जल नही बहता। काल के बिना स्त्रियाँ गर्भ धारण नही करती। शिशिर, गर्मी और वर्षा ये ऋतुए बिना काल के नही होती। बिना काल के न कोई मरता है और न जन्म लेता है। बिना काल के बच्चा बोलता भी नही। बिना काल के यौवन नही आता। बिना काल के बीज नही उगता। बिना काल के सूर्य नही आता। बिना काल के वह अस्त भी नही होता। बिना काल के चन्द्रमा घटता-बढता नही। बिना काल के समुद्र मे लहरें नही उठती (२६।१२)। काल से पके हुए सब मानव मृत्यु को प्राप्त हो जाते है। काल के इस चक्र से कोई नही छूटता। लोक मे ऐसा मानते है कि एक ने दूसरे को मारा और किसी और ने और किसी को मारा। यह तो "लौकिकी संज्ञा" या कहने की बात है। न कोई किसी को मारता है, न कोई मरता है। नियति या होनहार के वश मे स्वाभाविक रूप से यह सब हो रहा है (२६।१६)।

इसके बाद व्यासजी ने शोक के विषय मे कुछ वाक्य कहे। ससार मे चारों ओर शोक-ही-शोक है। शोक और हर्ष के हजारो कारण प्रतिदिन मूर्ख के सामने आते है। पण्डित को वे नही छूते। प्रिय और अप्रिय वस्तुएं सुख और दु ख लाती रहती है। तृष्णा से दु ख होता है और दु ख के बाद सुख आता है। सुख के बाद दु.ख और दुःख के बाद सुख आता है। किसी को सदा दु·ख और किसी को सदा सुख नही रहता। सुख हो या दुःख, प्रिय हो या अप्रिय, जो कुछ आवे उसे हृदय की हार के बिना सहना चाहिए। जो एकदम मूढ है या जो बुद्धि के पार निकल गये है, वे लोक मे सुखी है। बीच के व्यक्ति तो क्लेश पाते है। इस प्रकार पहले के किसी सेनजित् राजा ने सुख-दु.ख सम्बन्धी गाथाएं गाई थी। उन्हे काल के पर्याय-योग में ग्रहण किया गया। सुख-दु ख, होना न होना, लाभ-हानि, जीवन-मरण

ये अपनी बारी से सब के पास आते है। इसलिए धीर पुरुष को चाहिए कि न हर्ष मनावे, न क्रोध करे।

यह सुनकर युधिष्ठिर का घाव जैसे फिर हरा हो गया और वह अपने सगे-सम्बन्धियो की मृत्यु के विषय में फिर कहने लगे। उन्होने कहा, "राज्य के लिए मैंने अपने वंश का उच्छेद कर डाला। मै गुरुघाती और पापी हूँ। मैने राज्य के लोभ से भीष्म और द्रोण का बध करवाया। यहाँ तक कि 'नरो वा कुंजरो वा' कह कर झूठ भी बोला। ऐसा दारुण कर्म कर मैं किस लोक में जाऊँगा? जब मैंने अभिमन्यु को अकेले चक्रव्यूह में भेजकर मरवा डाला तब अर्जुन व कृष्ण को अपना मुंह दिखाने की हिम्मत मुझ में नही हुई।"

इसके वाद व्यासजी ने पर्यायवाद के ही एक दूसरे अग की व्याख्या करते हुए कहा, "जितने सग्रह है, उन सबका क्षय अवश्यभावी है। जितनी वस्तुए ऊँचे चढती है, वे अवश्य नीचे गिरती है। सयोग के बाद वियोग अवश्य आता है और जीवन के बाद मरण भी निश्चित है।" जब युधिष्ठिर वार-बार समझाने पर भी शान्त न हुए तब व्यासजी ने उनका शोक दूर करने के लिए कुछ प्राचीन कथाएं सुनाईं। फिर कुछ उपदेश दिया। यह स्वभाववाद सज्ञक दार्शनिक मत था। इसीके अन्तर्गत सुख-दुख और सयोग-वियोग का दृष्टिकोण आता था। स्वभाववाद के दार्शनिक मत का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् की सूची में आया है। विश्व का विधान स्वभाव से चल रहा है। वह किसी के लिए ठहरता या वदलता नही (२७।२०)। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि कालवाद और स्वभाववाद इन दोनो का परस्पर निकट का सम्बन्ध था। काल-पर्याय विचित्र है। इसमें आसन और शयन, ज्ञान और उत्थान, पान और भोजन सब भूतो के लिए काल के अनुसार निश्चित है। यहाँ वैद्य भी है, रोगी भी है। स्त्री, पुरुष तथा नपुसक भी है। कुल में जन्म, वीर्य, धैर्य्य, आरोग्य, सौभाग्य, उपभोग ये सब होनहार से ही मिलते है। दरिद्रो के न चाहने पर भी वहुत से पुत्र हो जाते है। धनिको के

इच्छा करने पर भी नही होते। दरिद्र क्लेश पाता हुआ सौ वर्ष तक जीवित रह जाता है और धनी कुल मे लोग पतिंगे की तरह चट-पट मर जाते है। लोक मे हम देखते है कि धनिको के पास भूख नही होती, जब कि निर्धन काष्ठ भी खाकर पचा डालते है। काल के प्रभाव से ही मनुष्यो मे गुण-दोष आते है और सुख-दुःख भी प्रकट होते है। सब कुछ करने वाला काल है, पर मनुष्य अहंकार-वश अपने को कर्ता मान लेता है। न यह किसी का हुआ है और न कोई इसका है। सहस्त्रों माता-पिता पहले हुए और सहस्त्रों आगे होगे। जैसे जल मे तैरते हुए दो काष्ठ आकर मिलें और फिर अलग हो जायँ ऐसे ही यहां प्राणियों का मिलन है।[1] जैसे रास्ता चलते लोग मिल जाते है वैसे ही स्त्री, पुत्र, मित्र आदि से मिलना है। परलोक को आज तक किसी ने अपनी आख से नही देखा। जो आगमों मे लिखा है, उसमें श्रद्धा करना ही मनुष्य के वश की बात है। इसलिए देवताओं के लिए यज्ञ और पितरो के लिए श्राद्ध करते रहना चाहिए।

मनुष्य अवश होकर काल के अधीन है। रात, दिन, पक्ष, अयन, वर्ष का फेरा लगा हुआ है। कोई काल से मुक्त नही है। आयुर्वेद पढने वाले वैद्य और उनकी औषधिया है। साथ ही रोगी भी है, जो काषाय, और घी पीकर रहते है। काल से कोई नही छूटता। रसायन खाने वाले भी है, पर कोई बुढापे से नही छूटा। ऐसे ही तप, स्वाध्याय, दान, और यज्ञ करने वाले भी है, पर जरा और मृत्यु से कोई नही बचा। काल और पर्याय के विषय मे जनक और अस्मा ऋषि का सम्वाद सुनाकर व्यासजा ने विराम किया, पर युधिष्ठिर का भ्रम फिर भी न टूटा।

---

१. यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
　　समेत्य च व्यतीतायां तद्वद्भूतसमागमः॥
　　　　　　　　　　(२८।३६)

कृष्ण द्वारा युधिष्ठिर को उपदेश

तब अर्जुन ने कृष्ण से स्थिति कही, "युधिष्ठिर ज्ञातिशोक में डूबे हुए हैं। आप ही उन्हें उबारने का कुछ यत्न कीजिये।" बालपन से ही युधिष्ठिर कृष्ण की बात नही टालते थे। कृष्ण ने युधिष्ठिर का शोक शान्त करने के लिए सृंजय और नारद की कहानी सुनाई। सृंजय का पुत्र मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसे पुत्र-शोक छोडता ही न था। नारद से उसकी भेंट हुई और नारद ने 'षोडषराजकोपाख्यान' या पहले मरे हुए सोलह राजाओ का चरित्र सुनाया। (२९।१६–१३५)

यह प्रकरण किसी अत्यन्त मेधावी कवि की रचना है। इसकी शैली और शब्दावली अत्यन्त उदात्त है। शान्तिपर्व में आई हुई यह सामग्री द्रोणपर्व में भी दोहराई गई है (अ० ५६–७१)। वहा वह प्रक्षिप्त सिद्ध हुई है। किन्तु सत्य तो यह है कि शान्तिपर्व में भी 'षोडषराजको-पाख्यान' गुप्तयुग मे जोडा गया था। वह उसके प्राचीन मूल सस्करण का अग न था। नारद के मुख से इसका उपदेश सूचित करता है कि भागवत आचार्यो ने इस रचना को अपनाया। ज्ञात होता है सस्कृत युग के वन्दी या चारण ऊँचे स्वर से राजाओ के सामने उनका शोक दूर करने के लिए इसका पाठ करते थे। अवश्य ही इसे ऊँचे स्वर से पढते हुए ऐसी तरगें वातावरण मे भर जाती हैं जिनसे दु खी व्यक्ति के मनोभावो पर प्रभाव पडता है। व्यक्ति की शोकवृत्ति में परिवर्तन लाने मे वे छन्द उपयोगी थे। इस उत्तम काव्य का सार इस प्रकार है .—

१. हे सृजय, हमने सुना है कि आविक्षित मरुत्त राजा भी मृत्यु को प्राप्त हो गया, जिसके विश्वसृज् यज्ञ मे इन्द्र, वरुण, वृहस्पति आदि देवो ने भाग लिया था। उसने जब इन्द्र से स्पर्धा की तो वृहस्पति ने उसे यज्ञ कराना अस्वीकार कर दिया। तब सवर्त ऋषि ने उसके लिए यज्ञ कराया। उसके राज्य में पृथिवी विना कृषि के अन्न उत्पन्न करती थी

और चारो ओर अनेक चैत्य स्तूप बने हुए थे (पृथिवी चैत्यमालिनी)। उसके यज्ञ मे विश्वेदेव सभासद बने। श्राद्धगण परोसने लगे। मरुतो ने सोमपान किया। इतनी अधिक दक्षिणा दी गई कि देवता, गन्धर्व और मनुष्य उसे पूरी तरह न ले सके। हे शृंजय, तुम्हारे पुत्र से कही अधिक पुण्यवान् जब वह राजा मर गया तो तुम अपने पुत्र के लिए शोक मत करो।

२. राजा सुहोत्र वैतिथिन भी मर गया, जिसके राज्य मे इन्द्र ने वर्ष भर सोना बरसाया था, जिससे पृथिवी का वसुमती नाम चरितार्थ हुआ। (स्वर्ग से स्वर्ण-वृष्टि का यह अभिप्राय रघुवंश, दिव्यावदान आदि गुप्त युग के ग्रन्थो मे पाया जाता है।) कहते है, इन्द्र ने साने के कछुए, मछली, मगरमच्छ, कर्कट और सूँस बनाकर नदियो को भर दिया था। तब राजा को बडा आश्चर्य हुआ। राजा ने वह धन यज्ञ द्वारा ब्राह्मणो को दे दिया। हे शृंजय, तुम्हारे पुत्र से कही अधिक पुण्यवान् जब वह भी मर गया तो तुम अपने पुत्र के लिए शोक मत करो।

३. सुना जाता है कि अंग देश का राजा बृहद्रथ भी मर गया, जिसने सैकड़ो सहस्रो श्वेत अश्व और कन्याओ का सग्रह किया और यज्ञ करके पुकार-पुकारकर दक्षिणा दी। शत-सहस्त्र वृषभ और गौओ की दक्षिणा ब्राह्मणो को बुलाकर दी और विष्णुपद पर्वत पर यज्ञ किया। उसके यज्ञो में सोमपान करके इन्द्र को मद हो गया। वैसा दानी न पहले हुआ और न आगे होगा। यदि वह भी मर गया तो तुम अपने पुत्र के लिए शोक मत करो।

४. सुनते है कि उशीनर देश का राजा शिवि भी मर गया, जिसने इस समस्त भूमि को चमडे की तह से लपेट दिया था और अपने रथ की झकार से धरती गुंजा दी थी। उसके जयनशील रथ पर केवल एक छत्र विराजता था। उसने यज्ञो मे अनेक-संख्यक गौएँ दक्षिणा में दी। वह भी मर गया।

५. सुनते हैं दुष्यन्त का पुत्र भरत भी मर गया, जिसने तीस अश्वमेध यज्ञ यमुना के किनारे, वीस सरस्वती के तटपर और चौदह गंगा के तटपर किये। भरत के महत कर्म का यश स्वर्ग तक छा गया। उसने वेदी मे सहस्रो अश्व वांधकर कण्व ऋषि को दिये। जब वह भी मर गया तो तुम अपने पुत्र का शोक क्यो करते हो ?

६. सुनते हैं कि दशरथ का पुत्र राजा राम भी मर गया जिसने सदा प्रजा का अपने औरस पुत्रो की भांति पालन किया। राजा राम के शासन में मेघ समय पर वृष्टि करते थे और सदा सुभिक्ष वना रहता था। न कोई पानी मे डूवता था, न कोई आग मे जलता था। सव लोग नीरोग और पूर्णकाम थे। स्त्रियो में भी विवाद नही था पुरुषो की तो वात ही क्या ? प्रजाएँ नित्य धर्म का पालन करती थी। गौएँ कलसे भरकर दूध देती थीं। राम ने चौदह वर्ष वन में विताये और दस अश्वमेध यज्ञ किये। वह भी मर गया तो तुम अपने पुत्र के लिए क्यो शोक करते हो ?

७. सुनते हैं राजा भगीरथ भी मर गया, जिसके यज्ञ मे इन्द्र सोम-पान करके मदमत्त हो गये थे। उन्होंने सहस्रो असुरो पर विजय प्राप्त कर ली। उसने यज्ञ मे सहस्रो कन्याएँ दक्षिणा में दी। प्रत्येक कन्या रथवाहन पर वैठी थी। प्रत्येक रथ के पीछे अनेक हाथी-घोडे थे। जव वे पर्वत की गुफा में तपकर रहे थे, गगा भागीरथी वनकर उनकी गोद में आकर वैठी। त्रिलोकपावनी गंगा को उन्होने अपनी दुहिता वनाया। जव वह भी मर गये तो तुम क्यो शोक करते हो ?

८. सुनते हैं कि राजा ऐलविल दिलीप भी मर गया, जिसके यज्ञो का वर्णन ब्राह्मण आज भी करते हैं। उसने अपने महायज्ञो में सुवर्ण-मण्डित हाथियों का दान दिया। उसके यज्ञ में सोने का महायूप लगाया गया। उस यूप में सोने का चषाल या छल्ला था जिसपर इन्द्रादिदेव वैठे थे। उस यज्ञ में विश्वावसु गन्धर्व ने स्वयं नृत्य-गान और नाट्य-संगीत का आयोजन किया। सब लोग यही समझते थे कि वह सगीत उन्ही के

लिए हो रहा था। कोई राजा दिलीप का अनुकरण नही कर सका। दिलीप के राज्य मे पहनी-ओढी स्त्रियाँ नशे में चूर होकर मार्ग पर सो जाती थी, पर उन्हें कोई छेडता न था। ऐसे सत्यवादी और उग्रधन्वा दिलीप भी स्वर्ग को चले गये। दिलीप के आगन में स्वाध्याय-घोप, प्रत्यञ्चा-घोष और 'दान-करो, दान-करो' ये तीन शब्द कभी कम न होते थे। यदि वह मर गया, तो तुम अपने पुत्र का शोक क्यों करते हो ?

९. सुनते है कि युवनाश्व का पुत्र मांधाता भी मर गया जो पिता युवनाश्व के जठर मे वृद्धि को प्राप्त हुआ था। मरुत देवो ने पिता के गर्भ के पार्श्व भाग से उसे निकाला था। वह अपने पिता द्वारा यज्ञ के पृषदाज्य खा लेने से उत्पन्न हुआ था। वह त्रिलोक-विजयी हुआ। उसे मृत पिता की गोद मे लेटे हुए देखकर देवो ने आपस मे कहा, "यह किसका दूध पियेगा ?" तब इन्द्र ने कहा, "यह मेरा दूध पियेगा।" इसी से उसका 'माधाता' नाम पड़ा। उस महात्मा यौवनाश्व की पुष्टि के लिए इन्द्र के हाथ से दूध की धार बहने लगी। तब वह प्रतिदिन उस धार का पान करने लगा और बारह दिन मे ही ऐसा हो गया जैसे बारह वर्ष का हो। यह सारी पृथिवी एक दिन मे ही उस धर्मनिष्ठ महात्मा के अधिकार मे आ गई। वह युद्ध मे इन्द्र के समान शूर-वीर था। उसने अंगार, मरुत्त, गय, बृहद्रथ, आदि राजाओ को युद्ध मे जीत लिया। जब मांधाता ने अंगार से युद्ध किया तो उसके धनुप की टंकार से देवो ने समझा कि आकाश फट गया। सूर्योदय से सूर्यास्त तक का जितना विस्तार है सभी माधाता के राज्य मे था। सैकड़ो अश्वमेध और राजसूय यज्ञ करके उसने रोहू मछलियो के दान से मिथिला के ब्राह्मणो को तृप्त कर दिया। यहाँ तक कि एक योजन ऊँचा और दस योजन लम्बा सोने का ढेर अन्य लोगों ने द्विजाति से अतिरिक्त और लोगों को बाटा। हे सृंजय ! जब वह मर गया, तो अपने पुत्र का शोक क्यों करते हो ?

१०. सुनते हैं कि नहुप का पुत्र राजा ययाति भी मर गया, जिसने समुद्र के साथ इस पृथिवी को जीत कर एक-एक शम्यापात की दूरी

पर यज्ञ वेदियो का निर्माण कराया था, और पवित्र यज्ञो का अनुष्ठान करते हुए समस्त पृथिवी की परिक्रमा की थी। सहस्रो सोम, क्रतु और सैकडो अश्वमेघ यज्ञ करके उसने तीन सुवर्ण पर्वतो से इन्द्र को प्रसन्न किया। देवासुर-सग्राम मे असुरो को मार कर नहुपपुत्र ययाति ने समस्त पृथिवी को दान में दे दिया। अन्त मे अपने ज्येष्ठ पुत्र यदु, द्रुह्यु, तुर्वसु, और अनु को अलग करके कनिष्ठ पुत्र पुरु का राज्याभिषेक किया। अरे सृजय, जब वह भी मर गया तब तुम पुत्र-शोक क्यो कर रहे हो?

११ सुनते है कि नाभाग का पुत्र अबरीष भी मर गया। उसे प्रजा ने अपना गोप्ता चुना था। उसने सहस्र-सहस्र दक्षिणाओ से यज्ञ करके ब्राह्मणो को सतुष्ट किया। न तो पहले लोगो ने ऐसा किया और न आगे कोई करेगा। इस प्रकार नाभाग अम्बरीष द्वारा प्रदत्त दक्षिणाओं की कीर्ति है। सहस्रो, सैकडो अश्वमेध यज्ञो से यजन करने वाले राजा उसकी प्रदक्षिणा करते थे। हे सृजय, वह भी मर गया, तब तुम पुत्र-शोक क्यो करते हो?

१२. सुनते है कि चित्ररथ का पुत्र राजा शशविन्दु भी मर गया, जिसकी सहस्रो भार्या और शतसहस्र शाशविन्दव नामक पुत्र थे। वे सब सोने का कवच पहनते और उत्तम धनुष धारण करते थे। एक-एक राज-पुत्र के पीछे सौ-सौ कन्याएं गमन करती थी। एक-एक कन्या के पृष्ठभाग में सैकडो हाथी और उनके पीछे सैकडो रथ रहते थे। और, एक-एक रथ के पीछे सुवर्ण की माला पहने सौ-सौ अश्व रहते थे। एक-एक अश्व के पीछे सौ-सौ गाएं और एक-एक गौ के पीछे सौ-सौ बकरियाँ रहती थी। इस प्रकार का अपरिमित धन 'महामख' नामक अश्वमेध यज्ञ में महाराजा शशविन्दु ने ब्राह्मणो को दिया। हे सृजय, वह भी मर गया तब तुम पुत्र-शोक क्यो कर रहे हो?

१३. सुनते है कि अमूर्तरय का पुत्र राजा गय भी मर गया जिसने सौ वर्ष तक यज्ञ का उच्छिष्ट भोजन किया था। अग्नि से उसने वर मागा—'दान देते हुए मेरे यहा वस्तुएं अक्षय बनी रहें, धर्म मे मेरी

श्रद्धा की वृद्धि हो। हे अग्नि देव ! आपकी कृपा से मेरा मन सत्य मे हमेशा रमता रहे।" दर्श, पौर्णमास और चातुर्मास्य के बारंबार अनुष्ठान से उस महातेजस्वी ने सहस्र वर्षो का आयुष्य प्राप्त किया। शत गौवे और शत-शत अश्वो का उसने प्रतिदिन सहस्र संवत्सर तक दान किया। उसने सोमपान से देवो को और धन से ब्राह्मणो को तृप्त किया। पितरो को स्वधाकार से और स्त्रियो को इच्छा-पूर्ति से सतुष्ट किया। उस राजा ने महामख वाजिमेध मे दस व्याम से वीस व्याम तक की पृथिवी को सोने से मढवाकर दान दिया। गंगा मे बालू के जितने कण है उतनी गौएं राजा आमूर्तरयस गय ने दान में दी। हे शृंजय ! वह भी मर गया तब तुम पुत्र शोक क्यो करते रहो ?

१४. सुनते है कि संकृति का पुत्र रन्तिदेव भी मर गया जिसने इन्द्र को भली प्रकार संतुष्ट करके यह वर प्राप्त किया था—"हमारे यहाँ अन्न की वहुतायत हो और अतिथि बरावर आते रहे। हमारे हृदय से श्रद्धा का कभी लोप न हो और हम किसी से याचना न करें।" ग्राम्य और आरण्य पशु स्वयं महात्मा रन्तिदेव के यहा चले आते थे। उसके यज्ञों में जो चर्मराशि या चमडे का ढेर इकट्ठा हुआ उससे चर्मण्यवती नामक नदी वह निकली। उसने यज्ञ का वितान होने पर प्रत्येक ब्राह्मण को एक-एक सुवर्णमय निष्क दिया। कभी-कभी वह एक-एक सहस्र निष्क भी देता था। 'अन्वाहार्य' पचन नामक अग्नि के उपकरणो के रूप मे घट, थाली, कडाह, पात्री और पिठर ये सव वर्तन उसके यहाँ सोने के ही थे। साकृत्य रन्तिदेव के यहां जो रात को रहता था, उसको सौ गायो की दक्षिणा दी जाती थी। उसके यहां एक दिन के आतिथ्य की दक्षिणा सौ गायें थी। कानो मे चमकते मणि-कुण्डल पहने हुए रसोइये इस वात को पुकार-पुकार कर कहते थे कि अव पहले जैसा मास-पुलाव नही रहा। अव सूप के साथ भात का भोजन कीजिये। हे शृंजय, वह भी मर गया। अव तुम पुत्र का शोक क्यो करते हो ?

१५. सुनते हैं कि इक्ष्वाकुवंशी महात्मा राजा सगर भी मर गया। उसके पीछे साठ सहस्र पुत्र चलते थे। वह एकछत्र पृथिवी का शासक हो गया। उसने सहस्र अश्वमेधो से देवताओ को प्रसन्न किया। उसने काञ्चन स्तम्भ और सुवर्णमय प्रासाद का दान किया जो अनेक स्त्रियो के शयनागारो से पूर्ण था। उसने अनेक ब्राह्मणो की इच्छाएं पूर्ण कीं। उसने क्रोध मे भरकर पृथिवी को खुदवा डाला और वही समुद्र हो गया। उसी के नाम से समुद्र की संज्ञा 'सागर' है। हे शृंजय, जब वह भी मर गया तब तुम पुत्र-शोक क्यो करते हो ?

१६. सुनते हैं कि वेन का पुत्र राजा पृथु भी मर गया जिसका महर्षियो ने जगल में एकत्र होकर यह सोचकर अभिषेक किया था कि यह लोको का 'प्रथन' या विस्तार करेगा। इसी कारण उसका नाम पृथु पडा। यह हमें 'क्षत्' या सकटो से बचायेगा, इसीलिए वह क्षत्रिय कहलाया। वैन्य पृथु के दर्शन करके प्रजाओ ने कहा कि हम इससे प्रसन्न हैं। प्रजाओ के अनुराग के कारण ही उसकी उपाधि राजा हुई। उसके राज्य मे पृथिवी बिना जोते-बोए अन्न उत्पन्न करती थी और जगह-जगह छत्ते शहद से भरे हुए थे। वैन्य के राज्य मे गौवें कलसे भर कर दूध देती थी या गौओ के दूध से कलसे भर जाते थे। सब मनुष्य नीरोग, पूर्णकाम और निर्भय थे। जब वह दिग्विजय के लिए प्रस्थान करता तो नदिया अपना प्रवाह रोककर उसे मार्ग देती थी। उसके मार्ग में किसी अन्य राजा का ध्वज न टकराता था। उस राजा ने महायज्ञ अश्वमेध मे सुवर्ण के तीन ढेर और इक्कीस पर्वत दान दिये। हे शृंजय ! वह भी मर गया तब तुम पुत्र-शोक क्यो करते हो ?

इतना सुनाकर नारद ने पूछा—"हे सृंजय, तुम चुप क्यो हो ? क्या यह सब मैंने व्यर्थ ही कहा ?" तब सृंजय ने उत्तर दिया, "हे महर्षि, आपका यह शोक दूर करने वाला कथन सुनकर मुझे बहुत शान्ति मिली है। राजर्षियो के ये दृष्टान्त तो अमृत के घूंट हैं, जिन्हें पीकर मैं तृप्त हो गया।"

इसके बाद युधिष्ठिर ने कृष्ण से पुनः सृंजय के सुवर्णनिष्ठीवि पुत्र के विषय मे पूछा कि वह कैसे सोना उगलने लगा था, किस कारण से मर गया और फिर कैसे जी उठा। यह कहानी अध्याय ३०-३१ में वर्णित है। इसका सार यह है कि बहुत इच्छाओं के बाद देवाराधन से राजा सृंजय को पुत्रलाभ हुआ। पांच वर्ष की आयु मे ही उसे वन में बाघ ने खा लिया। तब सृंजय के बहुत विलाप करने पर नारद ने उसे जीवन-दान दिया। इस कहानी की पुष्टि स्वयं नारद ने युधिष्ठिर से की।

युधिष्ठिर को मौन देखकर फिर व्यासजी ने राजधर्म के अन्तर्गत कर्म के महत्त्व का ही वर्णन किया और साथ मे यह भी कहा कि अच्छे-बुरे कर्मों का फल कर्म करने वाले को ही भोगना पड़ता है इसलिए उन्हे अपने कर्म का प्रायश्चित करना चाहिए। (३४।२४)

इस कथन में व्यासजी ने प्रायश्चित का संकेत तो किया, पर क्या प्रायश्चित करना चाहिए यह नही बताया। तब युधिष्ठिर ने अपने पाप का लम्बा-चौडा वर्णन किया। उसके उत्तर मे व्यासजी ने अपने पुनः कालपर्याय दर्शन का वर्णन किया और जब उनकी सब युक्तियां समाप्त हो गईं तो अन्त मे वह खुले और कहा, "तुम्हारे इस पाप का प्रायश्चित तो अश्वमेध यज्ञ ही है—अश्वमेधो महायज्ञ प्रायश्चित्तमुदाहृतम्। (३४।२६) उस अश्वमेध को करने से तुम पाप मुक्त हो जाओगे। इन्द्र ने भी असुरो को मारकर ऐसा ही किया था। तब अश्वमेध करके उसने शतक्रतु संज्ञा प्राप्त की थी।" व्यासजी ने वह दूसरी बात भी दुहराई कि अपने भाई, पुत्र और पौत्रो के साथ विविध नगरो और राष्ट्रो में जाकर तुम उनका वहाँ अभिषेक कर दो। गर्भस्थ बालको को भी राज्य दो। सब प्रजाओ का रंजन करते हुए पृथिवी का पालन करो। कुमार न हो तो कन्याओ का ही अभिषेक करो। स्त्रियो की भी इच्छाएं होती है। इससे उनका शोक मिट जायगा। इस प्रकार सब राष्ट्रो का आश्वासन करके तब तुम्हे अश्वमेध यज्ञ करना चाहिए।

जब व्यासजी ने प्रायश्चित रूप मे अश्वमेध की बात कही तो महा-भारत के लेखक ने बहुत से दूसरे पापो के प्रायश्चित का प्रकरण यहा लाकर रख दिया। युधिष्ठिर को उसकी कोई आवश्यकता न थी। अवश्य ही अध्याय ३५,३६ और ३७, जो प्रायश्चित से सम्बन्ध रखते है, इस प्रकरण में नितात प्रक्षिप्त है। लेखक ने प्रायश्चित्त-कथन के साथ भक्षाभक्ष्य का पुछल्ला भी लगा दिया (प्रायश्चित्तकथा ह्येषा भक्ष्याभक्ष्य विवर्धिता)। व्यास के वचन सुनकर युधिष्ठिर का मन कुछ तो आश्वस्त हुआ, किंतु उनके मन मे यह शका तो बनी ही रही कि राजा के द्वारा राजशास्त्र और धर्मचर्या इन दोनो का मेल कैसे बैठाया जा सकता है। इस पर व्यासजी ने सलाह दी कि युधिष्ठिर को भीष्म के पास जाकर राजशास्त्र सुनना चाहिए। उन्होने कहा—"भीष्म ने इन्द्रादि देवो का साक्षात् दर्शन किया है। उन्होने बृहस्पति आदि देवर्षियो के राजशास्त्र का अनेक बार अध्ययन किया है। उशना जिस राजशास्त्र को जानते है उसको व्याख्या के सहित भीष्म ने पढा है। भार्गव च्यवन से उन्होने अगो-सहित वेदो का अध्ययन किया है। महाबुद्धि भीष्म ने व्रतो में पारगत वशिष्ठ से भी वेद-ज्ञान प्राप्त किया है। ब्रह्मा के पुत्र ऋषि सनक से भीष्म ने अध्यात्म विद्या सीखी। ऋषि मार्कण्डेय के मुख से भीष्म ने यतिधर्म का ज्ञान प्राप्त किया। परशुराम और इन्द्र से उन्होने अस्त्रो की प्राप्ति की। यद्यपि वे मनुष्य-योनि मे उत्पन्न हुए है, किन्तु मृत्यु उनकी इच्छा की वशी है। ब्रह्मर्षि नित्य उनके सभासद थे। ज्ञान और ज्ञेय मे कुछ भी ऐसा नही है, जिसे वे न जानते हो। वे भीष्म धर्म के सूक्ष्म तत्त्व के वेत्ता है। अब वे ही तुमसे धर्मों का वर्णन करेंगे। इसके पहले कि वे वह अपने प्राण छोडें तुम उनके पास पहुँच जाओ।"

यह सुनकर युधिष्ठिर ने व्यासजी से कहा, "घोर मार-काट करके मैंने ज्ञातियो (सगे-सम्बन्धियो) का वध कराया और फिर छल से भीष्म को भी शर शैय्या पर लिटा दिया। अब मै किस मुँह से उनके पास जाऊं ?" (३८।१६)। इस पर कृष्ण ने राजा को समझाते हुए कहा, "यदि

तुम अपने लिए न भी जाना चाहो तो भी चारों वर्णों के हित की दृष्टि से तुम्हे भीष्म के पास जाना चाहिए, क्योकि वे सबके लिए हितकारी धर्मो का उपदेश करेगे। तुम्हारा मन शोक मे डूबा हुआ है। इस विषय में हठ मत करो। व्यासजी ने जैसा कहा है तुम्हे वैसा करना उचित है। ब्राह्मण, प्रजाजन, कुटुम्बी, ज्ञाति, बान्धव, मित्र एव सुहृद, सबका इससे हित होगा।" कृष्ण की बात सुनकर राजा ने नगर-प्रवेश की आज्ञा दी।

युधिष्ठिर का हस्तिनापुर में प्रवेश

प्रजाओ ने उनके स्वागत के लिए नगर को सजाया। धृतराष्ट्र और गान्धारी का रथ उनके आगे चला। युधिष्ठिर के रथ मे सोलह बैल जोते गये। वह पाण्डु-कम्बल और व्याघ्राजिन से मढा था। भीम ने बागडोर संभाली, अर्जुन ने छत्र हाथ मे लिया। नकुल-सहदेव ने व्यजन और चमर लिये। इस प्रकार पांचो भाई एक बड़े रथ मे बैठकर नगर मे प्रविष्ट हुए। नगर का द्वार खूब सजाया गया था। सात्यकि और कृष्ण का रथ उनके पीछे चला। द्रौपदी, कुन्ती एव अन्य कुरुकुल की स्त्रिया विदुर के पीछे-पीछे रथो मे चली। पृष्ठ भाग मे अनेक रथ और हाथियो की सवारिया थी। इससे वह जलूस लम्बा हो गया। अनेक वैतालिक, सूत और मागध राजा के लिए सुभाषित पढने लगे। इस प्रकार प्रयाण करते हुए युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर मे प्रवेश किया। इससे सब लोग प्रसन्न हो उठे। राजमार्ग पर पताकाएं फहराई गई। वेदियां बनाई गई एवं सुगन्धियो से युक्त धूप जलाई गई। अनेक गध-पुष्प और मालाओ से राजवेश्म अलंकृत किया गया। नगर-द्वार मे जलपूर्ण कुम्भ रक्खे गए एवं मागलिक द्रव्य लिए कन्याए खडी हुई।

स्त्रिया विशेषकर द्रौपदी की प्रशंसा कर रही थी जिसने अनेक कष्ट सहे थे। राजमार्ग के चतुष्पथ पर बना हुआ चत्वर या मञ्च सुशोभित हुआ। वहा से राजा ने राजकुल मे प्रवेश किया। रथ से उतर कर वे पहले भीतर गये और फिर शीघ्र ही बाहर आकर उन्होने ब्राह्मणो का सम्मान

'किया। राजमार्ग स्त्री-पुरुषो की भीड से भर गया था। उन्ही ब्राह्मणो में एक चार्वाक मतानुयायी भी था, जो अपने को दुर्योधन का मित्र मानता था। उसने आगे बढकर युधिष्ठिर को फटकारा, "तुम जातिवध करने वाले पापी हो, तुम राज्य के योग्य नही।" उसके कठोर वचन सुनकर युधिष्ठिर तिलमिला उठे और उन्होने कहा "मै स्वय दु:खी हूँ। मेरे लिए आप ऐसे वचन मत कहिये।" ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर के विपय में इस प्रकार का मत रखने वाले भी उस समय कुछ लोग थे। यह तो स्पष्ट लिखा है कि युधिष्ठिर की भी अपने विपय में कुछ ऐसी ही भावना थी। ऐसे स्पष्टवादी ब्राह्मण को महाभारत के लेखक ने राक्षस विशेषण देते हुए लिखा है कि दूसरे ब्राह्मणो ने उसे वही नोच डाला। इससे राजा प्रसन्न हुए। यहा कृष्ण को भी कुछ सफाई देनी पडी। उन्होने कहा, "इस चार्वाक ने सतयुग में बदरीनाथ में बहुत तपस्या करके ब्रह्माजी से यह वर प्राप्त किया था कि वह देवता और मनुष्यो से अभय हो जाय। तब से वह सबको दु ख दे रहा था। अच्छा हुआ जो यह आज ब्रह्म-कोप से ठिकाने लग गया (स एष निहत. शेते ब्रह्मदण्डेन राक्षसः ३९।४७)। तुम क्षत्रियो के वध का शोक मत करो। वे तो क्षात्र धर्म के अनुसार मारे गए। तुम अपने मन की ग्लानि दूर करके प्रजापालन के कर्म में निरत हो।"

थोडा सा ही खुरचने से यह समझा जा सकता है कि चार्वाक की यह कहानी किसी भागवत लेखक ने भोडे रूप में यहा जोड दी थी। स्वतन्त्र विचार रखने वालो का लोकायत दर्शन इस देश में अत्यन्त प्राचीन काल से था। कोई भी उनकी चुटकी या आलोचना से बच नही पाता था।

इसके बाद कृष्ण के कहने से पुरोहित धौम्य ने सबकी उपस्थिति में युधिष्ठिर का राज्याभिषेक किया और युधिष्ठिर ने अपना महान् राज्य विधिवत् प्राप्त किया। (अ० ४०)

यहा प्रजाओ की सान्त्वना के लिए युधिष्ठिर ने कुछ वाक्य कहे— "पाण्डव लोग धन्य है जिनका गुणगान ब्राह्मण कर रहे है। मै तो धृतराष्ट्र

की सेवा के लिए जीवित हूं। आप भी उन्हे ही अपना स्वामी समझिये (एष नाथो ह जगतो भवतां च मया सह ४१।७)। इनके प्रति आप पहले जैसा भाव बनाये रखिये। समस्त पृथिवी और पाण्डव इन्ही के है, मेरा यही कहना है। आप लोग इनका अनुगमन करके अपने-अपने स्थान को जायं।" इसके बाद युधिष्ठिर ने भीमसेन को युवराज पद दिया, मन्त्र-षाड्गुण्य विचार विदुर को, कृताकृतपरिज्ञान और आय-व्यय चिन्तन संजय को, सेना की संख्या और उसके लिए भक्त-वेतन का प्रबन्ध नकुल को, परचक्र का उपरोध और उपमर्दन अर्जुन को, ब्राह्मणो से सम्बन्धित वैदिक कार्य धौम्य को सौपा। सहदेव को अंगरक्षक के रूप मे अपने पास रहने का आदेश दिया। और जिसको जिस कर्म के योग्य समझा उसको वैसी आज्ञा दी।

इसके बाद युधिष्ठिर ने कर्ण, द्रोण आदि सबके लिए और्ध्वदेहिक श्राद्ध कर्म किए। (अ० ४२)

जब युधिष्ठिर ने अपना राज्य पुन पा लिया तो उनके लिए यह आवश्यक था कि कृष्ण की प्रशसा मे कुछ शब्द वे कहे, "हे कृष्ण, आपके प्रसाद, नीति, बल, बुद्धि, विक्रम से मैने अपना पितृ-पैतामह राज्य फिर पा लिया।" किन्तु ऐसे अनुकूल अवसर पर किसी भागवत लेखक ने कृष्ण का एक सार-गर्भित स्तोत्र जोड दिया है जिसमे विश्वकर्मा, पृश्नि-गर्भ, घृतार्चि, हंस, शिपिविष्ट, उरुक्रम, वाजसनि, सिन्धुक्षित्, त्रिवृत्, कृष्णवर्त्मा, वृषाकपि, हिरण्यगर्भ, पतंग आदि वैदिक विशेषणो के साथ कृष्ण, अच्युत, सात्वत, केशव आदि लौकिक संस्कृत के शब्द भी है। इस प्रकार वेद और लोक दोनो का अध्ययन करके ऐसे स्तोत्र बनाये जाते थे। भागवत मे भी वे कई जगह आये है। यह स्तोत्र गुप्त युग में विकसित संस्कृत भाषा की समृद्धि का उदाहरण है (अ० ४३)। यह ५१ नामो का स्तोत्र है।

तब युधिष्ठिर ने अर्जुन आदि अपने भाइयो से कहा—"आप

लोगो ने वन में और रण में बहुत कष्ट सहे है। अब विश्राम कीजिये।" युधिष्ठिर के कहने और धृतराष्ट्र की अनुमति से भीम ने दुर्योधन के भवन मे प्रवेश किया। अर्जुन ने दुशासन के भवन में, नकुल ने दुर्मर्षण के और सहदेव ने दुर्मुख के भवन मे राजा की आज्ञा से प्रवेश किया। सात्यकि के साथ कृष्ण ने अर्जुन के भवन मे जाकर भोजन किया और फिर युधिष्ठिर के पास आये।

: ७० :

युधिष्ठिर का भीष्म के पास जाना

अध्याय ४६ में वर्णन है कि युधिष्ठिर ने कृष्ण की प्रशसा में कुछ वाक्य कहे, जिन्हें सुनकर कृष्ण ने कुछ उत्तर नही दिया बल्कि मन की समाधि में चले गए। इस पर आश्चर्य से युधिष्ठिर ने इसका कारण पूछा। कृष्ण ने उत्तर दिया—"भीष्म इस समय शरशय्या पर पडे हुए बुझती हुई अग्नि की भाति शान्त हो रहे हैं और वे हृदय से मेरा स्मरण कर रहे है। अत. मेरा मन उन्ही के पास चला गया है। तुम भी उन्ही के पास चलो। चारो वेद, चारो ऋत्विज, चारो आश्रम और चारो वर्णों के धर्मों को उनसे पूछो। कौरवो में धुरन्धर उन भीष्म के अस्त हो जाने पर जितने ज्ञान है सब स्वल्प हो जायगे। इसलिए मै तुम्हें उनके पास चलने की प्रेरणा कर रहा हूँ (४६।२३)।" यह सुनकर युधिष्ठिर की आखो मे आसू आ गये और उन्होने कहा—"आपने भीष्म के लिए जो कहा सब ठीक है। वैसा ही ब्राह्मणो के मुख से हमने भी सुना है। मै आपके साथ भीष्म के दर्शन करना चाहता हूँ। सूर्य के उत्तरायण होने रप फिर वह जीवित नही रहेंगे।"

तब कृष्ण ने सात्यकि से अपना रथ तैयार करवाने को कहा और सात्यकि से सूचना पाकर उनका सारथी दारुक रथ ले आया।

कृष्ण को साथ लेकर युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र में वहा गये जहा भीष्म शरशय्या पर पडे हुए थे। उनके दल मे चारों भाई और कृपाचार्य आदि गुरुजन भी थे। इस कथा-प्रवाह के बीच मे एक विचित्र प्रकरण अध्याय ४७ मे पाया जाता है, जो सर्वथा किसी भागवत भक्त द्वारा उपबृंहित गुप्त युग की रचना है। इसका नाम भीष्म स्तवराज है।

: ७१ :

भीष्म स्तवराज

ऊपर कहा जा चुका है कि कृष्ण का मन समाधि की अवस्था मे आ गया था और वे भीष्म का चिन्तन कर रहे थे। उधर भीष्म भी जो कुरुक्षेत्र मे थे, मन की समाधि दशा मे आ गये और प्राञ्जलि मुद्रा मे कृष्ण का ध्यान करने लगे (शरतल्पगतः कृष्णं प्रदध्यौ प्राञ्जलिः स्थितः)। ध्यान की उस दशा में उन्होने कृष्ण के लिए एक अत्यन्त विलक्षण स्तोत्र पढा। वह भीष्म स्तवराज (अ० ४७।१०-६०) के नाम से प्रसिद्ध है। उसे भगवद्गीता और विष्णुसहस्रनाम के समान समझा जाता है। इसमे सदेह नही कि अध्याय ४६ के अन्त और अध्याय ४८ के आरम्भ का सम्वन्ध शब्दशः मिला हुआ है। उनके बीच आया हुआ भीष्म स्तवराज उत्तरकालीन रचना है, यह उसकी शैली और शब्दावली से प्रकट है।

इस स्तोत्र के भावो की प्रशसा शब्दो मे करना कठिन है। स्तोत्र के आरम्भ के १२ श्लोको में भगवान् के नामो की सूची (अ० ४७, श्लोक

११-२२) हैं, जैसे शुचि, शुचिषद् , हंस, परमेष्ठी, आत्मा, प्रजापति, भूतेश, विश्वकर्मा, सहस्रशीर्षा, सहस्रपाद्, सहस्रचक्षु, नारायण, सत्यकर्मा, सात्वतपति इत्यादि।

इसके बाद श्लोक २३ से ५४ तक की शैली भिन्न है। वह स्वतन्त्र 'नम स्तोत्र' है। ३२ श्लोको में ग्रथित होने के कारण उस युग मे इसकी द्वात्रिंशिका के रूप में रचना की गयी थी। उसे 'नम स्तव-द्वात्रिंशिका' कहा जा सकता है। प्रत्येक श्लोक के अन्तिम चरण में भगवान् के एक-एक रूप का वर्णन चतुर्थी विभक्ति के साथ जुडे हुए नम शब्द से है। जैसे सूर्यात्मने नम , सोमात्मने नम , वेदात्मने नम., ज्ञानात्मने नम , हसात्मने नम आदि।

यह तो एक द्वात्रिंशिका है। किन्तु गुप्त युग मे ३२ द्वात्रिंशिकाओ की भी रचना की जाती थी। उनकी श्लोक संख्या ३२ × ३२ = १०२४ होती थी। सिद्धसेन दिवाकर ने विभिन्न विषयो को लेकर बत्तीस बत्तीसियाँ लिखी थी। पुष्पदन्त गन्धर्व का शिवमहिम्न स्तव भी द्वात्रिंशिका स्तोत्र ही है। भीष्म स्तवराज की रचना चौथी शती मे, और महिम्न स्तव की रचना पाँचवी शती में हुई, ऐसा अनुमान समीचीन ज्ञात होता है।

भीष्म स्तवराज द्वात्रिंशिका का पाठ मन और प्राणो को शक्ति देने वाला है। विश्व की रचना में भगवान् की जो शक्तिया है, उनके स्वरूपो का इसमे ध्यान करके उन्हें प्रणाम भाव अर्पित किया गया है। वे इस प्रकार है—

१ अदिति देवमाता ने जिस हिरण्यगर्भ को १ से १२ रूपो मे ढाला और जो दैत्यो का सहार करनेवाला है, उस सूर्यात्मा को नमस्कार है।

२. जो शुक्लपक्ष में देवो को और कृष्णपक्ष मे पितरो को अपने अमृत से तृप्त करता है एव जो ब्राह्मणो का राजा है, उस सोमात्मा को नमस्कार है।

३. महान् अन्धकार रूपी तम के पार जो तेजस्वी पुरुष है, जिसे जानकर मृत्यु का अतिक्रमण किया जाता है उस ज्ञेयात्मा को नमस्कार है।

४-५. बृहत् उक्थ्यों के पाठ मे जिस बृहन्त भगवान् की प्रशंसा की जाती है, महान् यज्ञो मे अग्नि समिन्धन के द्वारा जिसका पूजन होता है, विप्र संघ सामगान द्वारा जिसका गान करते है, उस वेदात्मा भगवान् को नमस्कार है। ऋग्, यजु, साम जिसके नाम है, पञ्च आहुतियां जिसका रूप है, जिसका सात तन्तुओ द्वारा वितान करते है, उस यज्ञात्मा भगवान् को नमस्कार है।

६. यजुर्वेद जिसका नाम है, गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती छन्द जिसके शरीर हैं, त्रिवृत् यज्ञ जिसका मस्तक है, रथन्तर और बृहत् जिसके चक्षु है, ऐसे उस सुपर्ण भगवान् के स्तोत्रात्मक रूप को नमस्कार है।

७ जो विश्वसृज् देवो के सहस्र-सवन रूप दीर्घसत्र मे सुनहले पक्षी के रूप मे उत्पन्न हुआ था, उस हंसात्मा भगवान् को नमस्कार है।

८. पद जिसके अंग है, संधियां जिसके पर्व है, स्वर और व्यञ्जन जिसके लक्षण या रूप है, नित्य अक्षर जिसका नाम है, उस वागात्मा भगवान् को नमस्कार है।

९ अमृत से उत्पन्न ऋत तत्त्व के द्वारा जो सद् वस्तुओ के सेतु का निर्माण करता है, धर्म और अर्थ से जिसका व्यवहार रूपी शरीर बनता है, उस सत्यात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१०-११. पृथक् धर्मो का आचरण करने वाले, पृथक् धर्म-फल की इच्छा करने वाले, पृथक् धर्मो द्वारा जिसकी अर्चना करते है, उस धर्मात्मा भगवान् को नमस्कार है। महर्षि लोग जिस अव्यक्त ब्रह्म को व्यक्त शरीर मे ढूढा करते है, जो सब क्षेत्रो मे बैठा हुआ क्षेत्र है, उस क्षेत्रात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१२. सांख्य शास्त्र के जाननेवाले जिसे आत्मा के भीतर स्थित सोलह गुणो से युक्त चाक्षुषात्मा के रूप मे सत्रहवा तत्त्व कहते है, उस सांख्यात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१३. योगी लोग नीद, श्वास तथा इन्द्रियो को वश में करके अपने मन की समाधि-शक्ति से ज्योति रूप में जिसका दर्शन करते है उस योगात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१४. अपुण्य और पुण्य से ऊपर उठकर और पुण्य एवं पुनर्जन्म से निर्भय बने हुए शान्त सन्यासी जिसे प्राप्त करते हैं, उस मोक्षात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१५. जो युगसहस्र के अंत मे अग्नि रूप में सब भूतो का भक्षण करता है, उस घोरात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१६. सब भूतो का भक्षण करके और एकार्णव में मग्न जो बालरूप मे अकेला शयन करता है, उस मायात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१७. उस सहस्रशीर्षा अमितात्मा पुरुप को जो चार समुद्रो के भीतर योग-निद्रा में शयन करता है, उस योगनिद्रात्मा भगवान को नमस्कार है।

१८. जिस अजन्मा ईश्वर की नाभि में यह सारा कमलरूपी विश्व अर्पित है, उस पुष्करलोचन पद्मात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१९ मेघ जिसके केश है, नदिया सर्वाङ्गों की नाडिया हैं, चार समुद्र जिसकी कुक्षि है, उस समुद्रात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२० जो दिन, ऋतु, अयन और संवत्सर रूपी अपने अंशो से युग-युग में घूम रहा है, जो सृष्टि और प्रलय का करने वाला है, उस कालात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२१ ब्राह्मण जिसके मुख है, क्षत्रिय भुजाएँ हैं, वैश्य उदर है और पैर शूद्र हैं, उस वर्णात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२२. अग्नि जिसका मुख है, द्युलोक जिसका मस्तक है, आकाश जिसकी नाभि है, पृथिवी जिसके पैर है, सूर्य जिसका चक्षु है, दिशाएँ जिसके श्रोत्र है ऐसे उस लोकात्मा भगवान् को प्रणाम है।

२३. विशेष या पञ्च तन्मात्रओ के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध

इन वैशेपिक गुणों से आकृष्ट होकर जो लोग विपयो में रम रहे हैं, उनसे उनकी रक्षा करने वाले गुप्तात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२४. अन्न और प्राण जिसका ईंधन है, रस और प्राण को जो बढाता है, उस प्राणात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२५. जो काल और यश से परे है, सत् और असत् से परे है, जो अनादि देते हुए विश्व का आदि है, उस विश्वात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२६. जो इस सृष्टि की रक्षा के लिए जीवो को राग और स्नेह के वंधन रूपी मोह से युक्त रखता है, उस मोहात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२७. ज्ञानी लोग जिसे अपने भीतर ही पंचगुण, पंचविषय और पंच-इन्द्रिय आदि में अवस्थित देखते है, उस ज्ञानात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२८. जिसका शरीर अपरिमेय है, जिसकी दृष्टि अनन्त है, जिसका परिणाम अपरम्पार है, उस चिन्त्यात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२९. जो जटा, दण्ड और कमण्डलु धारण करता है और लम्वोदर है, उस ब्रह्मात्मा भगवान् को नमस्कार है।

३०. जो शूलधारी देवो का राजा और त्र्यम्बक है, भस्म लगाने वाले उस रुद्रात्मा भगवान् को नमस्कार है।

३१. पञ्चभूत जिसकी आत्मा है, भूतो का नाश जिसकी आत्मा है, जो क्रोध, द्रोह, मोह से रहित है उस शान्तात्मा भगवान् को नमस्कार है।

३२. जिसमे सव है, जिससे सवका उद्गम होता है, जो स्वयं यह सव है और सबसे जिसका स्वरूप वनता है, जो सदा सर्वमय है उस सर्वात्मा भगवान् को नमस्कार है।

इस प्रकार यह नमःद्वात्रिंशिका स्तोत्र संस्कृत साहित्य में वेजोड़ है। यह गुप्त युग के किसी महान् कवि की असाधारण कृति है। भीष्म को योग-निष्ठा और अध्यात्मिक भक्ति का इसमे प्रत्यक्ष दर्शन

होता है। वैसे तो ईश्वर सहस्रधात्मा है किन्तु उसके द्वात्रिंशिकात्मा स्वरूप की कल्पना से इस स्तोत्र का जन्म हुआ।

प्राचीन कल्पना के अनुसार स्तोत्र वाग्यज्ञ माना जाता था। उसका फल द्रव्य-यज्ञ से भी अधिक था और उसका करना सबके लिए सुगम था। इसी भावना से स्तोत्र कण्ठ करके घर पर या मन्दिर में देवता के सामने पढा जाता था कि उसके द्वारा वाग्यज्ञ का विधान हो रहा है (वाग्यज्ञेनार्चितो देव प्रीयता मे जनार्दन.)। भीष्म के योग और भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हे कृष्ण ने त्रैकालिक सर्वज्ञता का वरदान दिया।

अध्याय ४७ में योग और समाधि की झाकी थी। उसमें कोई कही गया आया नही। कथा का जो सिलसिला चल रहा था उसके अनुसार युधिष्ठिर, कृष्ण, सात्यकि, चारो भाई, कृपाचार्य, युयुत्सु, सूत और सजय, अपने-अपने रथो मे बैठकर कुरुक्षेत्र मे भीष्म के पास जा पहुँचे। कुरुक्षेत्र के प्रसग में भार्गव परशुराम का चरित्र दे दिया गया है। (अ० ४९)

: ७२ :

राजधर्म का सार

(अ० ५०—५८)

भीष्म द्वारा राज्यधर्म का सारकथन

तब सबने ओघवती नदी के किनारे भीष्म को शरशय्या पर पडे हुए देखा। कृष्ण उन्हें इस अवस्था मे देखकर खिन्न हुए और उन्होने कहा, "हे शातनु पुत्र, आपका शरीर और मन कैसा है ? एक काटे

के चुभने से शरीर को व्यथा होती है, फिर आप तो वाणों की शैया पर पडे है, किन्तु अपने तप और ब्रह्मचर्य की शक्ति से आप यह घोर कष्ट भी सहने मे समर्थ है। ये युधिष्ठिर आपके पास आए है। इनका मन शोक से दुःखी है। आप चार वर्ण, चार आश्रम, चार वेद, चातुर्होत्र, साख्य, योग, इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र इन सव विपयो के जानने वाले है। कृपया युधिष्ठिर को उपदेश दीजिए। (अध्याय ५०)

कृष्ण ने यह भी वताया "हे भीष्म, आपके जीवित रहने के ५६ दिन शेष है, क्योकि सूर्य जैसे ही उत्तरायण होगे आप यह शरीर छोड़ देगें। अतः धर्म और अर्थयुक्त अपनी सारवान् वाणी से युधिष्ठिर को उपदेश दीजिये। (अ० ५१)

इसके उत्तर में भीष्म ने एकदम सच वात कही, "हे कृष्ण, शल्यपीडा से मेरा मन और शरीर दोनो दुःखी है। मुझे वडी वेदना हो रही है और मुझ में तो कोई प्रतिभा भी नही है। न मेरी वुद्धि ही इस समय प्रसाद गुण से युक्त है। विषाग्नि के समान इन शल्यो की पीडा से मेरा वल, मेधा, और प्राण जल रहे है। मर्मस्थल परितप्त हो रहे हैं और चित्त घूम रहा है। मेरी वाणी दुर्वलता से वैठी जा रही है। मै कैसे वोल सकूंगा ? आप ही मुझ पर कृपा कीजिये। अतः यदि मै कुछ न कह पाऊं तो क्षमा कीजियेगा और फिर आपके सामने तो वृहस्पति भी कुछ वोल नही पाते। मुझे आकाश, दिशाएं और धरती कुछ नही सूझता। केवल आपके ही वल से किसी तरह मेरा शरीर ठहरा है। इसलिए जो युधिष्ठिर के लिए हितकारी हो उसे आप ही कहिये। आप सव आगमो के आगम है—

स्वयमेव प्रभो तस्माद्धर्मराजस्य यद्धितम्।
तद्ब्रवीह्याशु सर्वेंषामागमानां त्वमागमः॥ (५२।१२)

आपके होते हुए मेरा कुछ कहना ऐसे है जैसे गुरु के सामने शिष्य का।" भीष्म के ऐसे विनीत और सत्य वचन पढकर आंखो में आसू आ

जाते है। क्या इसकी कल्पना नही होती कि उनकी जन्म भर की साधना कैसी थी ? भारतीय राजशास्त्र धर्म, और दर्शन का पूरा ज्ञान रखते हुए भी उनका विनय-भाव कितना बढा चढा था ? कृष्ण ने उत्तर मे कहा, "कौरवो में धुरन्धर, आपका ऐसा कहना ठीक ही है। हे भीष्म, मेरे प्रसाद से आपको न ग्लानि रहेगी, न मूर्छा और न दाह रहेगी, न पीडा। भूख और प्यास भी आपको कष्ट न देगी। और सब ज्ञान आपको प्रतिभासित हो जायगे।" इस वार्तालाप में सध्या हो गई और सब लोग यह कह कर वहाँ से चले आये कि हम लोग कल आपके दर्शन करेंगे। (५२-५३)

प्रात काल नित्य कर्मों से निवृत्त होकर सब लोग पुन. भीष्म की सेवा में पहुचे। वहा नारद ने प्रश्न पूछने के लिए कहा, किन्तु किसी का साहस प्रश्न करने का न हुआ और सब कृष्ण से ही प्रश्न पूछने का आग्रह करने लगे। कृष्ण ने बात आरम्भ करते हुए कहा, "हे भीष्म, आप पूर्व और उत्तर काल के धर्मों के कुशल ज्ञाता है। आप अनुधर्मों को भी जानते है। जैसे पिता अपने पुत्र से कहता है ऐसे ही आप भी सब राजाओं को राजधर्म का उपदेश दीजिये। इनके पुत्र और पौत्र भी जो पूछें, उनका समाधान भी आप कीजिये।" (अ० ५४)

तब भीष्म ने कहा, "अच्छा, मै अब राजधर्म का प्रवचन करूगा। मेरी वाणी और मन समाहित है। युधिष्ठिर मुझसे इच्छानुसार प्रश्न करें। इससे मुझे प्रसन्नता होगी।" कृष्ण ने कहा, "युधिष्ठिर आपके सामने झिझकते हैं। इन्हे शाप का भी डर है, क्योकि ये लोक के सर्वनाश का कारण बने। ये आपके सामने आना नही चाहते।" भीष्म ने युधिष्ठिर की झेंप मिटाने के लिए कहा कि जैसे ब्राह्मण के लिए दान, अध्ययन, तप धर्म है वैसे ही युद्ध क्षत्रिय का स्वाभाविक धर्म है। यह सुनकर युधिष्ठिर विनीत भाव से भीष्म के सामने आये और उन्होने उनके पैर पकड लिये। भीष्म ने भी उनका स्वागत किया और कहा, "हे तात, मत डरो। विश्वास के साथ मुझ से प्रश्न करो। (अ० ५५)

युधिष्ठिर ने कहा, "जो धर्म को जानने वाले है, वे राजधर्म को सर्वश्रेष्ठ

बताते है। आप कृपया उस राजधर्म का कथन कीजिये। समस्त प्राणियो की परम गति राजधर्म है (सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्माः परायणम्)। धर्म, अर्थ, काम यह त्रिवर्ग राजधर्म के साथ जुडा हुआ है। मोक्ष धर्म भी राजधर्म पर निर्भर है। जैसे अश्व के लिए बागडोर और हाथी के लिए अकुश होता है, वैसे ही लोक को वश में लाने के लिए राजधर्म है। यदि राजर्षियो का चलाया हुआ धर्म पुष्ट नही रहता है तो लोक संस्था विचलित हो जाती है। जैसे सूर्य अपने उदय से आसुरी अन्धकार को नष्ट करता है वैसे ही राजधर्म से लोक की अशुभ गति को हटाया जाता है। इसलिए हे पितामह, आप सर्व प्रथम राजधर्म का कथन कीजिये।"

भीष्म ने कहा, "महान् धर्म को प्रणाम है (नमो धर्माय महते)। मै राजधर्म का वर्णन करूंगा। हे युधिष्ठिर, तुम राजधर्मों का सार सुनो। पहली बात यह है कि राजाओं को प्रजारञ्जन की कामना से शासन मे प्रवृत्त होना चाहिए। ऐसा करके राजा लोक से उऋण होता है और सम्मान पाता है। राजा को अकर्मण्य और उदासीन न रहकर सदा उत्थान का सेवन करना चाहिए। उत्थान के बिना भाग्य कुछ नही कर सकता। दैव और उत्थान दोनो में उत्थान ही प्रधान है। समारम्भ को निर्बल देखकर विषाद मत करो, किन्तु समारम्भ को अपनाओ। सत्य के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से राजा को सिद्धि नहीं मिलती। सत्य में लगा हुआ राजा इस लोक में और परलोक मे सुखी होता है। सत्य ही ऋषियो का परम धन है। राजा यदि मृदु होता है तो लोग उसे दबाना चाहते है, यदि वह तीक्ष्ण होता है तो लोग उससे भयभीत होते है। अतः उसे चाहिए कि मृदु और तीक्ष्ण दोनो उपायों का अवलम्बन करे।

"ब्राह्मणवृत्ति वाले लोग अदण्ड्य होते है। मनु का कथन है कि ब्राह्मण-वृत्ति से क्षत्रिय वृत्ति का जन्म उसी प्रकार होता है, जैसे पत्थर से लोहे का। जो लोकतन्त्र को बिगाडते है उनका निग्रह करना राजा का आवश्यक कर्तव्य है। उशना के राज्य-शास्त्र में कहा है कि वेदान्त ज्ञानी भी

राज्य से जो विपरीत रहता हो वह गुरु या मित्र भी हो तो वध के योग्य है। बृहस्पति के मतानुसार राजा मरुत्त ने पहले ही ऐसा कहा था। कार्य-अकार्य को न जानने वाले और अपथ या कुमार्ग मे प्रवृत्त गुरु का भी त्याग करना आवश्यक है। राजा सगर ने पुरवासियो के हित के लिए अपने पुत्र असमञ्जस को छोड दिया। उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को इसलिए छोड दिया कि वह ब्राह्मणो से अच्छा व्यवहार न करता था।

"राजा का सनातन धर्म है कि लोक का रंजन करे और सत्य का पालन करे और व्यवहार मे ऋजुता बरते। दूसरे का धन न ले। जो दूसरो को देना है, उसे दिलवाये। राजा को चाहिए कि अपना मन्त्र गुप्त रक्खे, क्रोध को वश मे करे और शास्त्रों के अर्थ का निश्चय करे। सदा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-सबंधी कार्यो में लगा रहे। राजा को चारो वर्णो की रक्षा करनी चाहिए। धर्म-संकर से लोगो को बचाना सनातन राजधर्म है। राजा को न अधिक विश्वास और न अधिक अविश्वास ही करना चाहिए। राजा को उचित है कि षाड्गुण्य और उनकी त्रुटियो पर नित्य विचार करे। शत्रुओ के छिद्र या निर्बलताओ की जानकारी लेता रहे। धर्म, अर्थ, काम के विषय म जानता रहे। गुप्तचर और शत्रु के साथ छल-छिद्र प्रयोग मे भी सावधान रहे। कोश के उपार्जन मे कुबेर के समान लगा रहे। राजा को चाहिए कि मंत्री, राष्ट्र, खजाना, दुर्ग और दण्ड इन पाच बातो का अपने पक्ष में और शत्रु के पक्ष मे भी ज्ञान रक्खे। इनके जानने से अपनी वृद्धि और न जानने से क्षय होता है।

"राजा को उचित है कि सदा अपने लिए सहायक या मन्त्रियो की नियुक्ति करता रहे और उन्हे अपने समान भोगो का अधिकारी बनाये। उनके लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष वृत्ति का प्रबन्ध करे। सब वर्णो के लिए सुलभ बना रहे। नीति और दुर्नीति का जानने वाला हो। वह काम निबटाने मे क्षिप्रकारी या शीघ्रता बरते। उसका मुख प्रफुल्लित और मन उदार हो।"

अन्त मे भीष्म ने गुणों की दृष्टि से अच्छे राजा के कुछ लक्षण बतलाये

यहां महाभारत मे राजधर्म के रचयिता प्राचीन आचार्यों (राजशास्त्र-प्रणेतार:) के नाम गिनाए हैं और राजधर्म के विषयों की सूची भी दी है, जिसे राजधर्मो का नवनीत कहा गया है। प्राचीन आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—१. बृहस्पति, २. विशालाक्ष, ३. शुक्र, ४. महस्राक्ष, ५. महेन्द्र, ६. प्राचेतस मनु, ७. भरद्वाज, ८. गौरशिरस् मुनि। ये सब लोग एकमत से रक्षा या प्रजापालन को ही राजधर्म का सार बतलाते हैं। उस रक्षा मे निम्नलिखित अंग सहायक हैं—गुप्तचर, राजदूत (प्रणिधि), दान, सज्जन और योग्य व्यक्तियो का संग्रह, शौर्य, दाक्ष्य, सत्य, प्रजाहित, ऋजु और कुटिल दोनों प्रकार से शत्रु पक्ष का भेदन, साधुओं का अपरित्याग, कुलानों का धारण, संग्राह्य वस्तुओ का संग्रह, बुद्धिशील व्यक्तियो का सेवन, बल या सेना को सदा हर्षित रखना, प्रजाओ का अन्वेक्षण या देखभाल, कार्य करने मे थकान का न होना, कोश का विवर्धन, पुरवासियो के प्रति अविश्वास और उनके विरुद्ध संगठन का भेदन, पुराने केतन या दुर्ग आदि स्थानो की देखभाल, और उनमें से जो नष्ट हो रहे हैं, उनकी अवेक्षा और फिर से मरम्मत, समय पर भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्ड का प्रयोग, शत्रु, मध्यस्थ और मित्र इनका यथावत् अन्वेक्षण, अपने और शत्रु के भृत्यो का उपजाप या विद्रोही भाव, अपने पक्ष के विषय में शंकाएं और शत्रु के विषय में आश्वासन की नीति, नीति धर्म का अनुसरण, सदा उत्थान का आश्रय, शत्रुओं की अवज्ञा न करना, अनार्यो का वर्जन या परित्याग।

बृहस्पति के अनुसार उत्थान राजधर्म का मूल है। उत्थान से ही अमृत प्राप्त हुआ और उत्थान से ही असुरो का संहार हुआ। उत्थान से महेन्द्र इन्द्र ने स्वर्ग का राज्य पाया। उत्थानधीर पुरुष जिह्वा से कहने वालो को अपने अधीन कर लेता है। जो केवल वाग्धीर हैं, उसे उत्थानधीर की खुशामद करनी पडती है। उत्थानहीन राजा को शत्रु ऐसे दबा लेते हैं जैसे विषरहित साप को मनुष्य।

भीष्म ने यह कहकर युधिष्ठिर से और भी प्रश्न करने को कहा।

जिससे सबका कल्याण हो, वह बताइये। ब्रह्मा ने उसके उपाय के रूप मे एक लाख अध्यायो का ऐसा शास्त्र बनाया जिसमे धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग का वर्णन था। उसका चौथा विषय मोक्ष था, जिसका पृथक् वर्णन किया गया था। मोक्ष से सम्बन्धित सत्त्व, रज, तम, रूपी त्रिवर्ग की व्याख्या की गई थी। राजदण्ड जिसका कारण है, ऐसे स्थान, वृद्धि, क्षय, रूप त्रिवर्ग का भी उसमें विस्तार था। आत्मा, देश, काल, उपाय, कृत्य, सहाय, कारण षाड्गुण्य (संधि, विग्रह, यान, आसन, सशय, द्वैधी भाव,) त्रयी, दण्डनीति, आन्वीक्षकी और वार्ता इन बडी बड़ी विद्याओ को विस्तार-पूर्वक वहा बताया गया था। अमात्यों की रक्षा, प्रणिधि या दूत, राजपुत्रों की शिक्षा और रक्षा, चर या गुप्तचर और उनके कार्यों के अनेक प्रकार, भिन्न-भिन्न प्रकार के राजदूत (अनिसृष्टार्थ शासनहर आदि), साम (या शान्ति), उपप्रदान या दान की नोति, भेद, दण्ड, उपेक्षा या कूटनीति, मन्त्र अर्थात् मन्त्रिपरिषद् मे विचार, भेदार्थ (भेद-नोति का मत), मन्त्र का विभ्रंश या मन्त्रभेद, सिद्धि और असिद्धि का फल, विविध नामो वाली संधिया, हीन, मध्यम और उत्तम प्रकार की संधिया, भय, शत्रु के साथ व्यवहार मे भय, सत्कार और मित्र का प्रयोग।

चार प्रकार का यात्राकाल या शत्रु पर चढाई करने के चार अवसर (जो थे—१. अपने मित्रो की वृद्धि, २. अपने कोश का भरपूर संग्रह, ३. शत्रु के मित्रों का नाश, ४. शत्रु के कोश की हानि), त्रिवर्ग का विस्तार, धर्म विजय, अर्थ विजय, असुर विजय, पञ्चवर्ग (मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, सेना और कोष) का उत्तम, मध्यम और अधम भेद से वर्णन, प्रकाश दण्ड, अप्रकाश दण्ड, प्रकाश दण्ड के आठ भेद, अप्रकाश या परोक्ष दण्ड के अनेक प्रकार, रथ, हाथी घोडे और पैदल-सेना, इन चार भेदो का विस्तृत वर्णन, विष्टि या बेगार, नौकारोही, गुप्तचर तथा कर्तव्य का उपदेश देनेवाले गुरु ये सेना के प्रकट अंग थे। सेना के परोक्ष उपाय भी कई प्रकार के वर्णित थे, जैसे जंगम (विचरण करनेवाले सर्पादि या साधु), अजंगम (वृक्ष, वन, पर्वत आदि), विष आदि चूर्णयोग अर्थात्

सबके प्रति सशंक रहना, प्रमाद-वर्जन, अलब्ध लिप्सा और लब्ध का संवर्धन, विवृद्ध धन का पात्रो को विधिवत् प्रदान, अर्थ का धर्मार्थ विसर्ग, कामोपयोग के लिए अर्थ का विनियोग, व्यसन या संकट के निवारण के लिए धन का उपयोग (इस प्रकार चार मार्गो से बढे हुए धन का व्यय), इन सब का उस राजशास्त्र ग्रन्थ मे वर्णन था। मृगया, मद्य, द्यूत और स्त्री-प्रसंग इन चार कामज व्यसनों का उसमे वर्णन था। क्रोध से उत्पन्न छह व्यसन जिनका आचार्यो ने इस प्रकार वर्णन किया है— वाणी की कटुता, उग्रता, दण्ड की कठोरता, शरीर को कैद कर लेना, किसी को सदा के लिए त्याग देना और आर्थिक हानि पहुँचाना, इनका भी उस राजशास्त्र मे वर्णन था। विविध प्रकार के यन्त्र और उन यन्त्रों की क्रियाएँ, शत्रु राष्ट्र को कुचल देना (अवमर्दन), शत्रुसेना पर प्रतीघात या आक्रमण, शत्रु के निवास स्थानो को नष्ट-भ्रष्ट करना (केतनानां च भञ्जनम्), शत्रु की राजधानी के चैत्यवृक्षो का विध्वस करा देना, पुर या राजधानी का रोध (घेरा), कर्मान्त या वास्तुशिल्प की इमारतो को नष्ट-भ्रष्ट करना, अपस्कर या रथाङ्गों का निर्माण, वाहनो से प्रयाण, उपास्या (सैनिक पडाव), पणव (तन्त्रीबद्ध वाद्य), पटह (ढोल या नगाडा), भेरी (दुन्दुभि) और शंख नामक रणवाद्यों का वर्णन, मणि, पशु, पृथ्वी, वस्त्र, दास-दासी तथा सुवर्ण इन छह प्रकार के द्रव्यो का अपने लिए उपार्जन, तथा शत्रु के छह मर्मों का वर्णन भी उस राजशास्त्र मे था। लब्ध या प्राप्त हुए राष्ट्र का प्रशमन, सज्जनों का पूजन, विद्वानों से ऐक्यभाव या मेलजोल, प्रातः होमविधि या प्रात.काल की आह्निक क्रिया मे माङ्गलिक द्रव्यो का स्पर्श, शरीर की प्रतिक्रिया या वस्त्राभूषणो से सजाना, आहार-योजन या भोजन कर्म, आस्तिक्य या देवपूजन, एक होते हुए उत्थान का विचार, सत्य, मधुर वाणी, मह नामक उत्सवों और समाजों का करना, इन्द्रध्वज क्रिया, सब अधिकरणों या सरकारी दफ्तरो मे प्रत्यक्ष और परोक्ष वृत्ति अर्थात् गुप्त और प्रकट व्यवहारो का नित्य अवेक्षण भी उस राजशास्त्र का विषय था। ब्राह्मणों का अदण्ड्यत्व, युक्तदण्डता, अनुजीवी और स्वजाति या बन्धु-

लक्षण स्पष्ट है। नीति और चार अर्थात् दण्डनीति और गुप्तचर ये अत्यन्त विपुल या विस्तृत है, जो लोक मे व्याप्त है। उसी पैतामह शास्त्र की एक संक्षिप्त विषय सूची दूसरी बार भी दी गई है। उसे दुहराई हुई जानना चाहिए। सहावस्थिति (जक्स्टापोजीशन) के अनुसार दोनों को आगे-पीछे रख दिया गया है, जैसा महाभारत की शैली मे और भी कई स्थानों पर पाया जाता है।

अनुश्रुति है कि ब्रह्मा की उस राजनीति को सबसे पहले भगवान् शंकर ने ग्रहण किया। बहुरूप, विशालाक्ष उमापति उन्ही के नाम थे। शिवजी ने ब्रह्मा के उस महान् शास्त्र को संक्षिप्त किया, जिसकी संज्ञा वैशालाक्ष थी। फिर वह शास्त्र इन्द्र को मिला। इन्द्र ने दशसहस्र अध्यायो मे उसका संक्षेप तैयार किया। बाहुदन्तक आचार्य ने उसे पांच सहस्र अध्यायो मे संक्षिप्त किया। बृहस्पति ने तीन सहस्र अध्यायो में उसे संक्षिप्त रूप प्रदान किया। उसे ही बार्हस्पत्य राजशास्त्र कहा जाता है। शुक्राचार्य ने उसे एक सहस्र अध्यायो मे सक्षिप्त रूप दिया। मर्त्य मनुष्यों की आयु का ह्रास देखकर ऋषि-महर्षियो ने इस शास्त्र को क्रमशः संक्षिप्त बनाया।

अन्त में यह कहानी दी गई है कि सुनीथा का पुत्र वेन दुष्टाचारी था। उसके राज्य मे निषादो के अत्याचार बढ गए। वैन्य का हनन करके ऋषियों ने राज्य पृथु को दिया। वे ही आदिराज कहलाये। यह संपूर्ण दण्डनीति पृथु को प्राप्त हुई (तं दण्डनीतिः सकला श्रिता राजन्नरोत्तमम्, १०६)। पृथु ने ऋषियो से पूछा, "राजधर्म-विषयक इस प्रज्ञा को पाकर मै क्या करूं ?" ऋषियो ने कहा, "तुम्हे जो धर्म दिखाई पडे निडर होकर उसका आचरण करो। प्रिय और अप्रिय का परित्याग करके सब प्राणियो मे समान व्यवहार करो। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान आदि के कारण जो धर्म का उल्लंघन करे उसे दण्ड दो। चौथी बात यह है कि मन, कर्म, वचन से तुम प्रतिज्ञा करके राजासन पर बैठो।

: ७३ :

वर्णों और आश्रमों के धर्म

है। भीष्म ने उत्तर दिया, "महान् धर्म को प्रणाम है। भगवान् कृष्ण को प्रणाम है, ब्राह्मणों को प्रणाम है। मै अब शाश्वत धर्मों का वर्णन करता हूं। अक्रोध, सत्य, दान, क्षमा, निज स्त्रियो मे सन्तानोत्पत्ति, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, अद्रोह, आर्जव, भृत्य-भरण ये 'नव सार्ववर्णिका, क्रिया सब वर्णो के धर्म है।

"केवल ब्राह्मण के धर्म है दम, स्वाध्याय, अध्यापन, दान, यज्ञ, अपत्य-सन्तान। राजा क्षत्रिय को चाहिए कि वह दान दे, पर स्वयं न ले। यज्ञ करे पर स्वयं न करावे। स्वयं अध्ययन करे, पर अध्यापन-कार्य न करे। प्रजाओं का पालन करे। दस्यु-वध में नित्य उद्यम करे, रण मे पराक्रम करे। जो सोम यज्ञो से यजन करते है, श्रुतवन्त होते है और जो युद्ध मे विजयी होते हैं, वे क्षत्रियो मे लोकजित् कहलाते है। दस्यु-नाश के अतिरिक्त क्षत्रिय का और कोई कर्म नही है। राजा को उचित है कि प्रजाओ को स्वधर्म मे स्थापित करे। वैश्य का धर्म दान, अध्ययन, यज्ञ, शुचिभाव से धन का संचय और पिता के समान पशुपालन है। प्रजापति ने पशुओं को जन्म देकर उन्हे वैश्य को दे दिया। अतः उनकी रक्षा वैश्य का मुख्य धर्म है। तीन वर्णों की परिचर्या शूद्र का स्वाभाविक कर्म है। अन्य वर्णो को चाहिए कि वे शूद्रो का भरण-पोषण करें (अवश्य भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते, ६०।३१)। वृद्ध और दुर्बल हो जाने पर शूद्र की वृत्ति का प्रबन्ध करना चाहिए। उसे आपत्ति के समय भी स्वामी का साथ नही छोड़ना चाहिए। प्रजापति ने सब वर्णों के लिए यज्ञ मुख्य कर्म बनाया है (यज्ञो मनीषया तात सर्ववर्णेषु भारत, ६०।४३) सब वर्णों के लिए श्रद्धा ही यज्ञ है (तस्मात्सर्वेषु वर्णेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते)। यज्ञ करने की इच्छा रखने वाले वैखानस मुनियो ने यज्ञ के विषय मे ये गाथा कही है—

सूर्योदय से पूर्व या पश्चात् श्रद्धापूर्वक जितेन्द्रिय व्यक्ति को धर्मानुसार अग्नि मे हवन करना चाहिए। इसमे श्रद्धा महत् कारण है। यज्ञों के अनेक रूप है, जो नाना कर्मों के फल है। ज्ञानपूर्वक निश्चय करके

'हे भगवान् ! तुम किस इच्छा से विष्णु के साक्षात् दर्शन करना चाहते हो ? उन निरञ्जन देव को मैं और ब्रह्मा भी साक्षात् नहीं देख सकते । तुम्हारे हृदय में और जो इच्छा हो, मैं उसे पूर्ण कर दूंगा ।' मान्धाता ने कहा, 'निःसन्देह मैं आदिदेव भगवान् के दर्शन करना चाहता हूँ । मेरी इच्छा है कि मैं भोगों को त्याग कर धर्म की कामना से अनुष्ठान करूँ । चाहे मैंने विशुद्ध क्षात्रधर्म के द्वारा इन लोकों और यश को प्राप्त किया पर जो यह धर्म आदिदेव से प्रवृत्त हुआ है, उसे मैं नहीं जानता ।'

"इन्द्र ने कहा सर्वप्रथम आदि देव नारायण द्वारा क्षात्रधर्म प्रवर्तित किया गया। कालान्तर मे अन्य सब धर्म उसी से निकले। इसी क्षात्र धर्म मे सबकी प्रतिष्ठा है। इसलिए राजधर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ है। पूर्वकाल में विष्णु ने क्षात्रधर्म के द्वारा ही देवो और ऋषियो की रक्षा की। यदि भगवान् ने क्षात्रधर्म से असुरों का हनन न किया होता तो न ब्राह्मण होते न लोको के आदिकर्ता ब्रह्मा, न सद्धर्म होता और न आदिधर्म ही होते। इस पृथिवी को यदि पराक्रम से भगवान् ने न जीता होता, तो चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म यहां न होते। क्षात्रधर्म से ही शतधा रूप में अन्य सब धर्म अस्तित्व मे आये। युग-युग मे आदिधर्मों की प्रवृत्ति इसी कारण हुई है। अतः क्षात्रधर्म को लोक मे ज्येष्ठधर्म कहा जाता है। आत्मत्याग, सब भूतो मे अनुकम्पा, लोक का ज्ञान, बन्धनों से छुड़ाकर उनका पालन, विषण्ण और पीडित लोगो के मोक्ष, राजाओं के क्षात्र धर्म से ही होते है। कामक्रोध से भरे लोग राजा के भय से पाप नही करते। दूसरे प्रकार के लोग, जो सज्जन और साधु आचरण वाले है, राजधर्म के कारण पुण्य कार्यों में प्रवृत्त रहते है। क्षात्रधर्म लोक में ज्येष्ठ और सब धर्मों का परायण है। वही अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति कराता है और स्वयं अक्षय और सर्वत्र गति रखने वाला है। (अ० ६४)

"इन्द्र ने पुनः कहा, 'इस प्रकार सब पराक्रमों से युक्त, क्षात्रधर्म सब धर्मो से श्रेष्ठ है। हे पार्थिव! आपको उसका पालन करना चाहिए, नहीं तो प्रजाओं का अभाव हो जायगा। राजा को उचित है कि वह भूमि का संस्कार, राज्य का संस्कार, प्रजा-पालन, समर मे प्राण-त्याग इन्हें मुख्य धर्म समझे। त्याग को मुनियों ने श्रेष्ठ कहा है। उनमें सर्वश्रेष्ठ वह है जो स्वदेह का त्याग करता है। सब धर्मो का समर्पण राजधर्म मे है, जिसे हे राजन्, आप यहा प्रत्यक्ष देख सकते है। क्षत्रिय ब्रह्मचारी को उचित है कि विद्याध्ययन और गुरुशुश्रूषा करते समय ही क्षात्रधर्म के आदर्श को ग्रहण करे। जब वह गृहस्थ होकर राज्य-सिंहासन पर बैठे तब उसे चाहिए कि वर्णाश्रम का पालन करता हुआ उन-उन

से वर्णन करते हुए लिखा है कि मान्धाता ने सम्पूर्ण पृथिवी पर धर्म-स्थापना करके स्वर्ग या उत्तरकुरु मे धर्म स्थापित करने के लिये वहा की यात्रा की और असुरों के शरीरो पर अपने धर्मरथ का पहिया चलाया। भागवतों के १६ राजाओ की सूची मे मान्धाता को विशेष स्थान दिया गया है। उन्हे भारतीय महाचक्रवर्ती का प्रतीक समझना चाहिए। उन्होंने इन्द्र से पूछा कि हमारे राज्य के भिन्न-भिन्न भागो मे जो विदेशी दस्यु बस गये है, उन्हे किस प्रकार धर्ममार्ग मे लाया जाय। यहा पहले १८ प्रकार के उन दस्युओं के नाम दिये गये है, जिनमे कितनी ही विदेशो से आई जातिया थी और कितनी यही बसनेवाली ऊबड-खाबड जातिया थी जो भारतीय संस्कृति मे घुल-मिल नही पाई थी। ये नाम इस प्रकार है—

१. यवन, २. किरात, ३. गान्धार, ४. चीन, ५. शबर, ६. बर्बर ७. शक, ८. तुषार, ९. कङ्क[1], १०. पह्लव, ११. आन्ध्र, १२. मद्रक, १३. ओड्र, १४. पुलिन्द, १५. रमठ, १६. कंबोज (पाठा० काचाः, वङ्क्षु के ऊपरी हिस्से में रहने वाली जाति), १७. म्लेच्छ, और १८. ब्रह्मक्षत्र।[2]

पह्लव—अंग्रेजी मे इनका नाम पार्थियन है, जो ईरान के एक प्रदेश पार्थिया से आये थे।

---

१. यह मध्य एशिया के सुग्ध या सोग्डियाना प्रदेश में रहने वाली जाति थी जिसका उल्लेख भागवत के 'आभीरकङ्का यवनाः खशादय' में आया है। ये भी भागवत सांचे में ढल गये थे। इनमें से अधिकांश कांगड़ा में आबाद हुए।

२. ब्रह्मक्षत्र लिच्छवियों का नाम था। इन्हें शर्मक-वर्मक भी कहते थे। इनकी राजकुमारी गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त से ब्याही गई। तब से गुप्त सेना में लिच्छवियों की एक मजबूत टुकड़ी भी रहने लगी। मत्स्य और लिङ्ग पुराणों में इसका उल्लेख है। अभी तक लिच्छवियो के वंसज अपने को त्रिकर्मा ब्राह्मण कहते हैं। वे ही जेत्थरिया या भुइंहार हैं।

करें और आचार्य एवं गुरु की सेवा करे तथा आश्रमो मे निवास करनेवाले ऋषि-मुनियों की सेवा करें।

२. सब दस्युओं को चाहिए कि राजाओं का अनुशासन मानें और उनके प्रति सम्मान प्रकट करें।

३. वैदिक धर्म की जो क्रिया या कर्मकाड है, उसे वे अपना धर्म समझें।
(वेदधर्मक्रियाश्चैव तेषां धर्मो विधीयते । ५६।१८)

४. पितृयज्ञ अर्थात् यथावत् विधि से श्राद्धकर्म करें।

५. उन्हे चाहिए कि जनहित के लिए कुएं, बावडी, सडको के किनारे प्याऊ (प्रपा) और विश्राम-स्थान बनवावें।

६. यथाकाल ब्राह्मणो को दान दें।

७ अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शौच, अद्रोह, इन चरित्र-संबंधी नैतिक गुणो का पालन करें।

८. जीविका के लिए अपने-अपने दाय या उत्तराधिकार का पालन अर्थात् जैसी जिसकी जीविका है उसी का आचरण करते रहे (वृत्ति-दायानुपालनम् ६।१९६)।

९. अपने परिवार मे स्त्री-पुत्रों का भरण-पोषण करें।

१०. सब यज्ञो मे उनके अनुकूल अच्छी दक्षिणा कल्याणार्थ दें।

११. सब दस्युओ को चाहिए कि वे पाक यज्ञो का अनुष्ठान करें, जिनमे द्रव्य का अच्छा व्यय हो (पाकयज्ञा महार्हाश्चा कर्त्तव्या सर्व दस्युभिः । ६५।२१)

इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम के क्षेत्रो मे दस्यु नामधारी उन-उन जातियो के लिए किस प्रकार का आचरण योग्य था, इसका कुछ चित्र ऊपर दिया गया है। उन्हे आर्य संस्कृति मे लाने के लिए यही स्थूल और व्यापक प्रकार थे। धर्म का आचरण, नैतिक जीवन, राजधर्म का पालन, पारिवारिक जीवन, इनके सार-संभाल एवं अनुष्ठान से शनैः शनैः जो यवन-शक-तुपार आदि जातिया थी, वे सब आर्य संस्कृति की अग बन गई और उनमे कोई भी विद्रोही या अनुशासनविहीन नही

रहा। जो भारतीय समाज का साचा था सब उसी में खप गए। ज्ञात होता है कि वे यहीं के आचार्यों और गुरुओ से यहा की विद्या और शास्त्रो का अध्ययन करने लगे, जैसा 'आचार्य-गुरु-सुश्रूषा' पद से ज्ञात होता है। देखा-देखी वे अपने घरो में धार्मिक त्योहार और देवताओं के लिए उत्सवादि भी मनाने लगे, जिन्हें पाक यज्ञ कहा गया है।

मान्धाता ने पुनः उसी प्रसग को लेकर कहा कि जिन दस्युओ अर्थात् विदेशी जंगली जातियो का मैंने पहले उल्लेख दिया है, वे दस्यु सब वर्णो में हैं और चारो आश्रमो मे विभिन्न लक्षणो को स्वीकार रहते हैं। यह बात यथार्थ थी, जैसा कि बिहार के 'शाकलदीपी' मग ब्राह्मण और राजस्थान की हूण ब्राह्मण एवं हूण क्षत्रिय जातियो से ज्ञात होता है। इन्ही में जाट एव गूजरो की भी गिनती थी। उन सबको आर्य-प्रभाव में लाना आवश्यक था।

इन्द्र ने उत्तर दिया, "जब दण्डनीति का नाश हो जाता है और राजधर्म का निराकरण हो जाता है तब उन-उन जातियो के राजा दुरात्मा हो जाते हैं। उनके अनुयायी भी बिगड जाते हैं। वे मोह में पड जाते हैं। ऐसे समय में असख्य मनुष्य भिक्षु बन जाते हैं और भांति-भांति के भेष धारण कर लेते हैं। सत्ययुग का लोप होने से चारो आश्रमो में व्यक्ति नाना रूप धारण कर लेते हैं। वे लोग प्राचीन धर्मों को अनसुना करके काम और क्रोध के वश में हो जाते हैं। मनमाना व्यवहार करने लगते हैं तथा उत्पथ में पड जाते हैं। जब महात्मा राजाओ द्वारा दण्डनीति के प्रयोग से पाप की निवृत्ति की जाती है तब शाश्वत धर्म विचलित नहीं होता है। जो परलोक, गुरु और राजा को नहीं मानता उसका यज्ञ करना, श्राद्ध करना निष्फल है। मनुष्यों के अधिपति राजा को, जिसके शरीर में आठ लोकपालो के अश हैं, देवता भी मानते हैं। जिस प्रजापति ने यह सारा विश्व रचा है, वह प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्मों के लिए क्षात्र धर्म की ओर ध्यान देता है। वह

मेरे लिए मान्य और पूज्य है, क्योंकि क्षात्र धर्म की प्रतिष्ठा प्रवृत्ति धर्म मे ही है।"

भीष्म ने कहा, "इस प्रकार जब धर्म का ठीक आचरण होने लगा तब किसी का साहस क्षात्र धर्म की अवहेलना करने का न हुआ। तुम अपने राज्य मे आरंभ से ही चक्र का प्रवर्तन करो, अर्थात् चक्रवर्त्ती के दायित्व का वहन करो। आरंभ से ही परम पुरुष भगवान् विष्णु की शरण मे जाओ, तो तुम्हे चक्र-प्रवर्तन मे कोई कठिनाई न होगी, ऐसा मेरा मत है।"

ज्ञात होता है कि अतिम श्लोक मे भीष्म ने चक्रपुरुष या विष्णु के चक्रपुरुप की ओर ध्यान दिलाया है, जिसके अनुसार समस्त राज्य को चक्रपुरुष के नारायणी स्वरूप और दुर्धर्ष स्वरूप का अंग माना जाता था। राजा का जैसा सकल्प होता था वैसा ही वह राज्य को ढाल लेता था। चक्र पुरुप का पूरा स्वरूप 'अहिर्बुघ्न्य संहिता' मे बताया गया है, जो गुप्त युग के भागवतो का महान् ग्रंथ है।

युधिष्ठिर ने कथा का पहला सूत्र जोडते हुए कहा, "मैने सुना है आश्रम चार होते है। हे पितामह, उनकी व्याख्या कीजिये।" उत्तर मे भीष्म ने चार आश्रमो के कर्मो को राजधर्म मे ही घटाकर गृहस्थ आश्रम को सबसे बडा बताया। काम-द्वेष-रहित दण्डनीति का सेवन करने से राजा मानो सन्यास आश्रम का (भैक्ष्याश्रम) का पालन करता है। जो धनसंग्रह और उसके त्याग को निग्रह एवं अनुग्रह को वीरोचित वृत्ति से जानता है, वह गृहस्थ आश्रम का फल प्राप्त करता है (क्षेमाश्रम-पदं भवेत् ६६।६)। ज्ञाति संबंधियों, और मित्रो का विपत्ति मे जो उद्धार करता है, वह ब्रह्मचर्य आश्रम (दीक्षाश्रमपद भवेत् ६६।७) का फल पाता है। जो राजा अपने आह्निक का ठीक से निर्वाह करता है और भूत तथा पितृयज्ञो को करता है, वह वानप्रस्थ (वन्याश्रमपदं भवेत् ६६।८) का फल प्राप्त करता है। सब भूतो का पालन और राष्ट्र के पालन से राजा वानप्रस्थ आश्रम का फल प्राप्त करता है। वेदाध्ययन, क्षमा, आचार्य-पूजा, उपाध्याय की सेवा से राजा को ब्रह्मचर्य

आश्रम का फल मिलता है। सब प्राणियो मे कुटिलता-शठता-रहित व्यवहार करने से राजा को ब्रह्मचर्य आश्रम का फल मिलता है। वानप्रस्थ-ब्राह्मणो और त्रैविद्य ब्राह्मणो मे धन का वितरण करने से राजा को वानप्रस्थ का फल मिलता है।

"सब भूतो मे अनुकम्पा और दया भाव रखने से राजा को चारो आश्रमो का फल राजधर्म से ही मिल जाता है (सर्वावस्थ पद भवेत् ६६।१२)। जिन प्राणियो के साथ बलात्कार किया गया है, उन शरणागतो की रक्षा से राजा को गृहस्थ आश्रम का फल मिल जाता है। चराचर भूतो की रक्षा और यथायोग्य पूजा करने से भी राजा को गृहस्थ आश्रम का फल मिलता है। ज्येष्ठातिज्येष्ठ पत्नियो, भाइयो, बेटे-पोतो का पालन करने से राजा गृहस्थ आश्रम की तपश्चर्या करता है। साधु और पूज्य लोगो के पालन से राजा को राजधर्म मे ही गृहस्थ आश्रम का फल मिल जाता है। जो राजा सब आश्रमो के अनुयायियो को अपने राजभवन मे भोजन देता है, उसे गृहस्थ आश्रम का पूरा फल मिल जाता है। जो ब्रह्मा के बनाये हुए धर्म मे स्थित रहता है, उसे राजधर्म मे ही सब धर्मों का फल मिलता है।" भीष्म के कहने का मतलब था कि राजा के लिए राजधर्म का यथावत् पालन ही मुख्य कर्तव्य है। उसे उसी मे चारो आश्रमो का पूरा फल मिल जाता है और अलग-अलग धर्मो मे भटकना नही पडता। देशधर्म और कुलधर्मो का पालन करने से राजा को सब धर्मो का अपने आसन पर बैठे ही फल मिल जाता है। जिस राजा के राज्य मे धर्म-कुशल लोग धर्म का पालन करते है, उस राजा को भी उनके धर्म का एक चौथाई अश-प्राप्त हो जाता है। जो इस काम मे रक्षक या सहायक बनकर राजा की सहायता करते है, उनको भी उस पुण्य का चौथाई अश प्राप्त होता है। सब आश्रमो मे गृहस्थ आश्रम सब से अधिक दीप्त-निश्चय वाला है। यह सब से पवित्र है। हम सब उसी की उपासना करते है। वनो मे और चारो आश्रमो में जितना धर्म है उन सबको तुम राजधर्म मे ही प्राप्त करोगे।" (अ० ६६) •

: ७५ :

राजा की उत्पत्ति

युधिष्ठिर ने प्रश्न का मुंह खोलते हुए फिर पूछा, "हे पितामह, आपने चार आश्रम और चार वर्ण कहे, किन्तु राष्ट्र का मुख्य कर्तव्य क्या है, यह भी बताइये।"

भीष्म ने कहना प्रारंभ किया, "राष्ट्र के लिए मुख्य कार्य यह है कि अपने यहा किसी व्यक्ति को राजा के पद पर अभिषिक्त करे, क्योकि अराजक राष्ट्र मे धर्म नही ठहरता। वहां लोग एक दूसरे को हडप जाते है। अराजक राष्ट्र को धिक्कार है। जो राजा का वरण करता है वह इन्द्र का ही वरण करता है, ऐसी श्रुति है। देवो मे जो इन्द्र है, वही मनुष्यो में राजा है। अराजक राष्ट्र मे नही बसना चाहिए, यह वेदों का मत है। अराजक राष्ट्र मे अग्नि द्रव्य को देवो के पास नही ले जाती। अराजक राष्ट्र से अधिक पाप अन्य कुछ नही है।

"जो बिना गरम किये झुक जाता है, उसे तपाना नही पडता है। जो गाय दुहने में सहेज होती है, उसे कोई कष्ट नही देता। जो काष्ठ स्वयं झुका हुआ है, उसे नवाना नहीं पड़ता। इन उपमाओं को देखकर बलवान् के सामने स्वयं झुक जाना चाहिए। जो बलवान् के सामने झुकता है, मानो इन्द्र के सामने झुकता है। अत भूति चाहने वाले को सर्वप्रथम राजा का वरण करना चाहिए। अराजक राष्ट्र में रहने वाले के लिए धन और स्त्री का कोई अर्थ नही। अराजक राष्ट्र मे दूसरे के धन को हरनेवाला बहुत प्रसन्न होता है, पर जब उसके धन को भी दूसरे हरते है तब उसे राजा की आवश्यकता का अनुभव होता है। अराजक अवस्था मे पापी भी सुखी नही होते, क्योंकि एक के धन को दो और दो की संपत्ति को बहुत-से हर लेते है। अराजक राष्ट्र में अदास को दास बना लेते है

और स्त्रियो को हर ले जाते है, यह देखकर देवो ने प्रजापालन रूप राजधर्म की व्यवस्था की।

"यदि लोक में राजा दण्ड का धारण करनेवाला न हो तो वलवान् निर्वलो को ऐसे खा लें जैसे जल मे वडी मछली छोटी मछली को। हमने सुना है कि पूर्वकाल में प्रजाएं विना राजा के नष्ट हो गई। जैसे जल मे मछलियो का जीवन होता है, वैसे ही उन्होने एक दूसरे को खा डाला। हमने सुना है कि उस अवस्था में प्रजाओ ने मिलकर आपस में एक समझौता किया और कुछ शर्तें तय की (समेत्य ततश्चक्रु. समयानिति न श्रुतम् ६७।१८)। हममें जो वाणी में क्रूर हो, दण्ड मे कठोर हो जो पारदारिक हो, जो हमारे धन का हरण करे, उसका त्याग कर देना चाहिए— इस प्रकार सव वर्णो को आश्वस्त करने के लिए उन्होने 'समय' स्थिर किया। तव भी वे दु खी होकर प्रजापति के पास गये और कहने लगे— 'भगवन्, विना राजा (ईश्वर) के हम नष्ट हो रहे है। हमे राजा (ईश्वर) दीजिये, हम मिलकर जिसकी पूजा करें और जो हमारा पालन करे।' ब्रह्मा ने मनु को उनका राजा वनाया, किन्तु मनु ने इसे पसन्द नही किया। उसने कहा, 'मैं इस क्रूर कर्म से डरता हू। राज्य वहुत दुष्कर है, विशेषकर मिथ्याचरण करनेवाले मनुष्यो मे यह और भी कठिन है।' प्रजाओ ने मनु से कहा—

'आप डरें नही, पाप तो करने वाले को लगेगा। और फिर हम लोग कोशवृद्धि के लिए आप को पचास पशुओ मे से एक पशु, सुवर्ण की तोल का पचासवा भाग और धान्य की उपज का दसवा भाग देंगे। मनुष्यो मे प्रधान अपने शस्त्र और वाहन लेकर आपके पीछे चलेंगे। आपसे सुरक्षित प्रजाएं जो धर्म करेंगी, उसका चौथा भाग आपको प्राप्त होगा। उस सहज प्राप्य धर्म से प्रसन्न होकर आप हमारी रक्षा करें, जैसे देवराज इन्द्र देवो की करता है। शीघ्र विजय के लिए निकलिये, शत्रुओ का मानमर्दन कीजिये। हममें धर्म की सदा जय हो।' यह सुनकर महातेजस्वी मनु वडी सेना के साथ विजय के लिए निकले। राजा की

महिमा देखकर सब लोग भयहीन हो गये और सबने धर्म मे मन लगाया। तब राजा ने सारी पृथिवी का पर्यटन किया और पापियों के पाप छुडाकर उन्हें धर्म मे लगाया। इसलिए पृथिवी के जो मनुष्य अपना कल्याण चाहे वे सर्वप्रथम राजा का वरण करें। शिष्य जैसे गुरु को, ऐसे ही प्रजाएं राजा को भक्तिपूर्वक प्रणाम करें। राजा का शत्रुओ से पराभव सबको असुखावह होता है। अत. प्रजाओ को उचित है कि छत्र, वाहन, वस्त्र, आभरण, भोजन पान, आसन, शय्या और सब उपकरण राजा को प्रदान करें। राजा को गुप्तात्मा, दुराधर्प, प्रसन्न मुख से भाषण करने वाला, श्रुतज्ञ, दृढ भक्त, दानी, जितेन्द्रिय, मृदु और सरल होना चाहिए।"

इस प्रकरण मे भीष्म ने राजनीति के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का वर्णन किया है कि राजा की उत्पत्ति कैसे हुई। इसमे तीन तत्त्व है। पहला यह कि प्रजाएं मात्स्यन्याय से रहती थी और वे नष्ट होने लगी। दूसरा यह कि इस स्थिति से अपना उद्धार करने के लिए उन्होने राजा का वरण किया। तीसरी बात यह कि राजा के और प्रजाओं के बीच एक शर्तनामा तय हुआ जिसके अनुसार प्रजाओं ने राजा को कर देना स्वीकार किया और राजा ने उनकी रक्षा और पालन का दायित्व लिया। भारतीय राजशास्त्र का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पश्चिमी राजशास्त्र मे भी पाया जाता है, जहां इसे 'सामाजिक समय' या सोशल काण्ट्रैक्ट का सिद्धान्त कहते है। (अ०६७)

: ७६ :

राजा का देवत्व विचार

युधिष्ठिर ने पूछा, "हे पितामह, यद्यपि राजा मनुष्य है, फिर भी उसे देवता क्यो कहते है ?" भीष्म ने कहा, "इस विषय में एक वसुमना नामक

राजा ने बृहस्पति से यही प्रश्न किया था। राजा को विनय या अनुशासन का ज्ञान था और वह अपने राज्य में वैनयिक संबधी सब कर्मो का संपादन कर चुका था।"

वैनयिक पारिभाषिक शब्द था। उसकी व्याख्या पाणिनि और कौटिल्य ने की है। वैनयिक—(विनयादिभ्यष्ठक् ५।३४) यह सूत्र अति महत्त्वपूर्ण हैं। विनयादि गण मे पठित कई शब्द शासन की जीवित परपरा से लिए गये थे। 'विनयः एव वैनयिक' अर्थात् विनय शब्द से स्वार्थ मे 'क' प्रत्यय जोडकर वैनयिक सिद्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि विनय और वैनयिक दोनो शब्दः के अर्थ में अन्तर न था। हाँ, वैनयिक शब्द अधिक गौरवपूर्ण और व्यंजक था। इसी प्रकार सामयिक और औपयिक, सामयाचारिक आदि शब्द थे। राजा, राजकुमार, राजपुरुप, प्रजा आदि के लिए अनुशासन की शिक्षा को कौटिल्य ने 'विनयाधिकार' कहा है। वस्तुत विनय ही राज्य का मूल है। विनय या वैनयिक के अभाव में धर्ममूलक राज्य की कल्पना असभव समझी जाती थी। राज्य को अराजक जनपद की स्थिति ग्रस लेती थी। शान्तिपर्व का ६८ वा अध्याय वैनयिक के आदर्श की व्याख्या करता है। यूनान के पुरराज्यो में तीन आदर्शों के समन्वय की कल्पना की गई थी—उन्नति की पूर्णतम अवस्था को प्राप्त हुआ राज्य, उच्चतम नीतिधर्म, उत्कृष्टतम नागरिक। ये तीनो एक दूसरे से अभिन्न और एक दूसरे के मूल समझे जाते थे। ठीक इसी प्रकार भारतीय जनपदो के युग में धर्म, धार्मिक राजा, राष्ट्र और धार्मिक प्रजा या लोक, इन तीनो के सह अस्तित्व या पारस्परिक अविनाभाव की कल्पना थी। इसे ही वैनयिक आदर्श माना जाता था। कोसल देश के विनयज्ञ राजा वसुमना ने अपने राज्य मे वैनयिक आदर्श की स्थापना की (सर्वं वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञः, शान्तिपर्व ६८।४)

यह सर्वभूतहितनिरत राज्य की विधि थी, जिसमे प्रजाए अत्यन्त सुख प्राप्त कर सकती थी। इसके लिए तीन बातें आवश्यक थी। एक

धर्म, दूसरे धर्म-परायण प्रजाएं और तीसरे धर्म-मूलक राज्य। वैनयिक राज्य के विषय मे युधिष्ठिर ने ये प्रश्न पूछे, "किस उपाय से प्रजाओं की वृद्धि होती है और किस प्रकार उनका क्षय हो जाता है? किसकी पूजा से उन्हें अत्यन्त सुख प्राप्त होता है?" बृहस्पति ने जो कौसल्य सुप्रभ को निश्चित उत्तर दिया था वह भीष्म ने कहा, "धर्म का मूल राज्य है। राजा के भय से प्रजाएं एक-दूसरे का भक्षण नही करती। राजा ही धर्म के द्वारा सब लोगो को प्रसन्न रखता है। बिना चन्द्र-सूर्य के जैसे लोक को अन्धकार ग्रस लेता है, वैसे ही विना राजा के प्रजाएं अन्धकार के गड्ढे मे विलीन हो जाती है। जैसे विना पानी के मछलियाँ दुःखी होती है, वैसे ही विना राजा के प्रजाएं।"

इसके अनन्तर १६ श्लोको मे अराजक जनपद का एक गीत दिया गया है, जिसकी टेक है—यदि राजा न पालयेत्। वलवान् दुर्वलो का माल-असवाव लूट लें और जवरदस्ती उन्हे मार डालें, यदि राजा पालन न करे। सवारी, वस्त्र, अलंकार और विविध रत्नो को पापी लोग बलपूर्वक हर ले, यदि राजा पालन करने वाला न हो। यह वस्तु मेरी है, ऐसा विश्वास किसी को न हो और विश्व का लोप हो जाय, यदि राजा पालन न करे। माता, पितर, वृद्ध, आचार्य, अतिथि, गुरु इन्हे सब लोग कष्ट देने लगें या हिंसा कर दें, यदि राजा पालन न करे। धर्म का आचरण करने वालो पर शस्त्राघात हो, सव लोग अधर्म का आश्रय ले लें, यदि राजा पालन न करे। अर्थवान् व्यक्तियो का वध, वन्धन और क्लेश होने लगे और ममत्व का भाव न रहे, यदि राजा पालन न करे। लोगों के घरो मे सव कुछ शून्य हो जाय, सव कुछ दस्युओ के अधीन हो जाय और सव लोगो की स्थिति नरक जैसी हो जाय, यदि राजा पालन न करे। न पशुपालन करने वाले हो, न कृषि हो और न वणिक् का कर्म हो, धर्म और वेद-विद्या डूव जाय, यदि राजा पालन न करे। आप्तदक्षिणा वाले विधिवत् यज्ञ, समाज-उत्सव और विवाह आदि भी न मनाये जायं, यदि राजा पालन न करे। न साड़ छोडे जायं, न दही-दूध के गगरे मथे

जाय और न ग्वालो के ग्राम हो, यदि राजा पालन न करे। यह लोक भयभीत और उद्विग्न होकर हाहाकार करता हुआ क्षणभर मे नष्ट हो जाय, यदि राजा पालन न करे। दक्षिणायुक्त संवत्सर यज्ञ निर्भय रूप में न चल सके, यदि राजा पालन न करे। तपस्वी ब्राह्मण चार वेदो का अध्ययन न कर सकें, विद्या मे और तप में निष्णात तपस्वी ब्राह्मण तप न करें, यदि राजा पालन न करे। दाहिना हाथ बाए हाथ की चोरी कर ले, जलाशयो के सेतु टूट-फूट जाय, सब लोग भयार्त्त होकर इधर इधर-उधर भाग जाय, यदि राजा पालन न करे। ब्राह्मण और अन्य वर्ण के लोग हनन के भय से धर्म का स्पर्श भी न कर सकें, कर्म कर्त्ता स्वेच्छा बरतने लगें, सब लोग नीति का मार्ग छोड दें, भ्रष्ट हो जाय, राष्ट्र में दुर्भिक्ष हो जाय, यदि राजा पालन न करे। जब राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, तो घर छोडकर भागे हुए लोग फिर लौट आते है और द्वार के बाहर निडर होकर सोते है।

यह गीत रामायण और महाभारत के अराजक जनपद गीतो से मिलता है। राजा को मनुष्य जानकर उसका कभी अपमान न करें। राजा मनुष्य रूप में बडा देवता है।

इसके अनन्तर युधिष्ठिर ने जनपद रक्षा और गुप्तचरो की नियुक्ति के विषय में प्रश्न किया। भीष्म ने उत्तर का आरम्भ इस प्रकार किया कि राजा को सर्व प्रथम आत्म-विजयी होना चाहिए। आत्म-विजय से ही शत्रु वश में किये जाते है। व्यवहार पक्ष का अवलम्बन करते हुए उन्होंने कहा, "राजा को चाहिए कि अपने दुर्ग में और सधि-स्थलो में सैनिक टुकडियो की नियुक्ति करे। नगर, उपवन और उद्यानो में भी चौकियो की स्थापना करे। नगर और पुर के सब संस्थान या कार्यालयो मे भी गुल्म या सैनिको को रक्खे। इस प्रकार रक्षक चौकियो का प्रबन्ध करके गुप्तचरो का प्रबन्ध करे जो बहरे और अन्धो के सदृश व्यवहार करें। अमात्यो और पुत्रो का व्यवहार जानने के लिए गुप्तचरो का व्यवहार आवश्यक है। पुर, जनपद और सामन्त राज्यो मे उन्हें इस प्रकार नियुक्त

करे कि वे एक दूसरे को न जानते हों। हाट-बाजारों में, भिक्षुओ के विहारो मे और प्रमाद गोष्ठियो मे भी गुप्तचरो की नियुक्ति होनी चाहिए। वेश, चत्वर, सभा, आराम और उद्यान मे सर्वत्र गुप्तचर आवश्यक है। राजा को चाहिए कि वलवान् के साथ और निर्वल के भी साथ मंत्रियों की सलाह से सन्धि करे। दण्डनीति और राजा का मेल आवश्यक है।" यहाँ भीष्म ने प्राचीन राजधर्म के वहुत वडे सिद्धान्त का वर्णन किया है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्॥ (७०।६)

"काल राजा को वनाता है या राजा काल को वनाता है, इस विषय मे कभी सन्देह मत करना क्योकि राजा ही काल को वनानेवाला है। सतयुग की पहचान यही है कि उसमे जगत् मे धर्म दिखलाई देता है, अधर्म कही नही होता। लोक मे जव सतयुग होता है तो ये-ये वातें नही होती। जव वैदिक कर्म किये जाते है तो लोक मे अल्पायु और व्याधियाँ नही होती। लोग क्रूर नही होते। धरती विना जोते-वोये धान्य देती है। ये सतयुग के चिह्न है। जव राजा दण्डनीति के तीन अंशों का पालन करता है तो वह त्रेता युग है। जव दण्डनीति के केवल दो अंग रह जाते है तो वह द्वापर युग कहलाता है। जव राजा दण्डनीति को सर्वथा त्याग देता है तो वह कलियुग है। कलि मे अधर्म वढ जाता है और सवका मन अधर्म की ओर ही झुक जाता है।" इस प्रकार चार युगो की नयी परिभापा करते हुए राजधर्म का दण्डनीति के साथ घनिष्ठ सम्वन्ध वतलाया गया है। जो राजा अपने राज्य मे सतयुग की स्थापना करता है वह स्वर्ग मे सुख भोगता है—ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः (रघुवंश २। ५०)। राजा का दण्डनीति युक्त होना यही प्रजा का परम धर्म है।

इसके अनन्तर भीष्म ने राजा के व्यवहार के लिए ३६ राजगुणो की व्याख्या की। राजा को चाहिए कि प्रजाओ के साथ मालाकार जैसा व्यवहार

करे, अंगारक या कोयले फूँकने वाले जैसा नही। राज्य की रक्षा करे, यही सब धर्मों का सार है। (तस्मादेवं परं धर्मं मन्यन्ते धर्मकोविदाः। यद्राजा रक्षणे युक्तो भूतेषु कुरुते दयाम् ॥ ७२।२७) ●

: ७७ :

ब्रह्म-क्षत्र का सम्मिलित आदर्श

अगले अध्याय मे ऐल पुरुरवा और कश्यप के संवाद के रूप मे राजा के लिये अच्छे पुरोहित की प्रशसा की गई है, और उस वैदिक सिद्धात की व्याख्या है, जिसके अनुसार पुरोहित ब्राह्मण और क्षत्रिय राजा एक दूसरे मे मिलकर रहते है (यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्य चौ चरत· सह। अथर्ववेद, ब्रह्मक्षत्र हि सर्वेषा धर्मात्मा मूलमुच्यते ७४।५)। जब क्षत्रिय ब्राह्मण पुरोहित को त्याग देते है, तो उस राजा के राज्य में न वृषभ बोझा ढो सकते है और न दही-दूध के मटके मह्रे जाते है और न यज्ञ होता है। वैदिक स्वाध्याय का क्रम टूट जाता है और सारे राज्य मे दस्यु बढ जाते है। ब्रह्म और क्षत्र एक दूसरे के आधे है। ये दोनो एक दूसरे के अनुकूल रहकर ही महती श्री का सवर्धन करते है। इनके आपसी विरोध से सब कुछ संप्रमूढ हो जाता है। यहाँ उस सधि पुराण का उल्लेख है जिसका वर्णन पाणिनि ने मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ (६।२।१५४) सूत्र मे किया है जिसके अनुसार ब्राह्मण मत्री और क्षत्रिय राजा एक दूसरे मे मिलकर रहते थे। कौटिल्य के ग्रन्थ मे ब्रह्म-क्षत्र की सधि का जो परम्परागत अर्थ था, वह काशिका के उदाहरण में मिलता है (ब्राह्मणमिश्रो राजा। ब्राह्मणं सह सहितो एकार्थ्यमापन्न)। दोनो के लिए इस पुराण सधि का पालन आवश्यक था। उसके उदाहरण मगधराज अजातशत्रु और उसके महामन्त्री वर्षकार, कोशलराज विडूडभ के महामन्त्री दीर्घचारायण,

वत्सराज उदयन के महामन्त्री यौगन्धरायण, मगधाधिपति चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री आचार्य चाणक्य, अशोक के राधगुप्त, अवन्तिराज महापालक के महामन्त्री आचार्य पिशुन, चण्डप्रद्योत के भरत रोहक, अवन्तिराज अंशुमुख के आचार्य घोटमुख, कोसलराज परंतप के कणिङ्कभारद्वाज, पञ्चालराज ब्रह्मदत्त के आचार्य बाभ्रव्य आदि नामों से मिलते है। यदि ब्राह्मण रूपी ब्रह्मवृक्ष की रक्षा की जाय तो वह मधु और सुवर्ण की वृष्टि करता है और यदि उसकी रक्षा न की जाय तो वह आँसुओ से रोता है। ऐल कश्यप-संवाद के रूप मे ब्रह्म और क्षत्र के धर्म का वर्णन किया गया है और पाप और पुण्य का सुन्दर चित्र खीचा गया है।

इस वर्णन का यह श्लोक अति उदात्त है।

पुण्यस्य लोको मधुमाद् घृतार्चिर्हिरण्यज्योतिरमृतस्य नाभिः।
तत्र प्रेत्य मोदते ब्रह्मचारी न तत्र मृत्युर्न जरा नोत दुःखम् ॥ (२६।७४)

इन बडे और तेजस्वी श्लोकों की रचना किसी प्राचीन वैदिक चरण मे हुई जान पड़ती है। (अ० ७४)

अध्याय ७५ मे मुचकुन्द और वैश्रवण के संवाद के रूप मे यह कहा गया है कि कुबेर ने मुचकुन्द को राज्य देने की इच्छा प्रकट की, किन्तु मुचकुन्द ने उसे लेने से इन्कार कर दिया जिसे उसने स्वयं अपने बाहुबल से न जीता हो।

नाहं राज्यं भवद्दत्तं भोक्तुमिच्छामि पार्थिव।
बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये ॥ (७५।१८)

राजा के लिए एक आचार धर्म यह भी कहा गया है कि यदि वह चोरी किये हुए धन का पता न लगा सके, तो अपने कोश से उसकी पूर्ति करे।[1]

---

१. प्रत्याहर्तुमशक्यं स्यात् धनं चोरैर्हृतं यदि।
स्वकोशात्तत् प्रदेयं स्यात् अशक्तेनोपजीवता ॥ (७६।१०)

अध्याय ७८ में ३४ श्लोको का गीत है, जिसे केकय देश के राजा ने राक्षस और दस्युओ के निराकरण के लिए गाया था। इस गान का पहला श्लोक वही है, जो छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः॥

इस प्रकार के राजधर्म विषयक कई गीतो को यहाँ उद्धृत किया गया है। ज्ञात होता है कि जनपद युग में उनकी रचना ग्रामीण कविता के रूप में हुई थी। (अ० ७८)

छोटा काम भी बिना सहायको के नही होता, तो फिर राज्य-प्रबन्ध जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य का तो क्या कहना ? अत राजा को चाहिए कि ऋत्विक, आचार्य और सर्वथा नीतिगुणो में परिपक्व सचिवो को राजकार्य में सहायक नियुक्त करे। राजा को सदा प्रमाद-रहित होकर कार्य करना चाहिए।

अध्याय ८२ में राजधर्म की एक कठिन समस्या को लिया गया है और कृष्ण-नारद-सवाद के रूप में इस बात की मीमासा की गई है कि गणराज्यो में जो दल का नेता हो, उसे अपने ज्ञाति, बन्धुबान्धव और और मित्रो के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। इसका सार यह है कि गण के नेता को स्वजनो के कडवे वचन अपनी मीठी वाणी से सहने चाहिएं, यह एक ऐसा शस्त्र है जो लोहे से न बना होने पर भी बडा कारगर होता है।

कृष्णने कहा, "जो राज्य का परम मन्त्र या बडा रहस्य हो, उसे अनुहृत् व्यक्ति पर प्रकट नही करना चाहिए। मैं कहने के लिए तो ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ, किन्तु मुझे अपने ज्ञाति जनो का दास्य करना पडता है (दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्)। मैं इस समय अधिकारो का अर्धभोक्ता हूँ, अर्थात् आधा अधिकार मुझमें है और आधा आहुक में है। अपने ज्ञातिजन के दुरुक्त या कडवे वचन को मैं क्षमा करता हूँ।

मेरा हृदय मुझे ऐसे मथ रहा है जैसे अग्नि उत्पन्न करने वाला अरणि को मथता है। उनके दुरुक्त वचन मुझे नित्य जलाते रहते है। संकर्पण को अपने वल का अभिमान है और गद को अपनी सुकुमारता का।. वे मुझे सहयोग नही देते। प्रद्युम्न को रूप का अभिमान है, इसलिए मै असहाय रह जाता हूँ। और भी अन्धक वृष्णियो के दूसरे नेता अपने आपको महाभाग्यशाली समझ कर मेरी पहुँच से बाहर है और अपने-अपने उत्थानकार्य मे लगे रहते है। जिसका वे साथ नही देते वह कही का नही रहता और जिसका वे साथ दें उसके लिए भी मुश्किल है। इधर कुआँ और उधर खाई—इन दोनो के बीच मे मैं किसी एक को नहीं चुन पाता। आहुक या अक्रूर जिसके विपक्ष मे हो, उसके लिए उससे दुःख की बात क्या हो सकती है। और जिसके पक्ष मे हो उसके लिए भी अधिक दुःख क्या होगा ? मेरी हालत दो जुवारियो की माँ के समान है, जो एक की जय मनाती है और दूसरे की हार भी नही चाहती। अपने स्वजनो और निजी हित के इस सघर्ष मे जो ठीक हो, वह मुझसे कहिये।"

नारद ने उत्तर दिया, "दो प्रकार की आपत्तियाँ होती है। एक वाहरी और दूसरी भीतरी। उनमे जो भीतरी आपत्ति है, वह तुम्हारे निजी कर्म से उत्पन्न हुई है और वही अधिक कठिन है। अक्रूर और भोज ये सव तुम्हारे ही वंश मे उत्पन्न होकर ऐश्वर्य का उपभोग कर रहे है, और तुम्हे दु.ख दे रहे है। तुमने जो ऐश्वर्य प्राप्त किया था, उसे अर्थ या काम के लिए या वीभत्स वचनो से डरकर इन लोगो को दे दिया। अव उसे फिर वापस लेना मुश्किल है, जैसे अपने ही वान्त अन्न को नही खाया जा सकता। वभ्रु और उग्रसेन का राज्य अव वापस लेना कठिन है, क्योकि उससे ज्ञातियों मे फूट पडने का भय है। यदि प्रयत्न से दुष्कर कर्म करके वह सिद्ध भी हो जाय तो महान् क्षय और व्यय होगा। ऐसे शस्त्र से जो लोहे का नही वना है, जो हृदय मे घुसकर मोठी काट करता है, तुम कटुवचन कहने वाली सवकी जीभ को जीत

लो और बदल डालो।" इस पर कृष्ण ने पूछा, "ऐसा अनायस और मृदु शस्त्र कौन-सा है, जिससे मैं उनकी निन्दा को वश में ला सकूँगा?" नारद ने उत्तर में कहा, "शक्ति के अनुसार उन्हें अन्न या भौतिक पदार्थों का दान दो, सहिष्णुता, दम और इन्द्रियनिग्रह, ऋजुता (आर्जव) और जो जिस योग्य है उसकी वैसी पूजा यही अनायस शस्त्र है। स्वजनों के कडवे वचनों को तुम अपनी वाणी से शान्त करो और उनके मन का परिवर्तन करो। ऐसा व्यक्ति जो महान् नहीं है, जो अपने आपको वश में नहीं कर सका और जिसके पास सहायक नहीं है, भारी बोझे को नहीं ढो सकता। तुम्हें चाहिए कि ऐसा करो। हरेक बैल समभूमि में भारी बोझ खीच ले जाता है, किन्तु दुर्गम भूमि मे उसे खीचना किसी-किसी के लिए ही सभव है।" नारद का यह उपदेश सघ या गण राज्यों के नेताओं के लिए ही था यह बात नीचे के श्लोक में और स्पष्ट कर दी गई—

> भेदाद्विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव।
> यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेत् अयं सघस्तथा कुरु॥ (८२।२५)

"फूट से सघों का विनाश हो जाता है। हे कृष्ण, तुम सघ-प्रमुख हो। ऐसा करो कि तुम जैसे नेता को पाकर सघ नष्ट न हो। बुद्धि और क्षमा और इन्द्रिय-निग्रह के बिना, धन के त्याग के बिना गण को किसी भी प्राज्ञ व्यक्ति में स्थायित्व प्राप्त नहीं होता। हे कृष्ण, जिस उपाय से धन, यश, आयुष्य की वृद्धि हो और ज्ञातियों का नाश न हो, वैसा करो। भविष्य और वर्तमान के विषय में तुम्हें कुछ भी अविदित नहीं है। षाड्गुण्य, यात्रा और यान सम्बन्धी सब विधानों को तुम जानते हो। कुक्कुर भोज, अन्धक, वृष्णि— सब तुम्हारे भक्त हैं और लोकाधिपति भी तुम्हारे भक्त हैं।" (८२।३–३०)

राजधर्मों का कथन करते समय यहाँ गणाधीन राज्यों के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त कहे गए हैं। एकाधीन और गणाधीन दोनों प्रकार के राज्य इस देश में थे। कृष्ण का जन्म और प्रतिपालन अन्धक-

वृष्णियो के गण राज्य मे हुआ था। उसके दो नेता थे--वृष्णियो के कृष्ण और अन्धको के अक्रूर या आहुक। इसीलिए कृष्ण ने अपने आपको ऐश्वर्य का अर्ध-भोक्ता कहा है।

अध्याय ८३ मे राजकोश की रक्षा के लिए राजा के सतर्क रहने का वर्णन है। अध्याय ८४ मे बताया है कि राजा को किस प्रकार के और किन गुणो से युक्त सहायक या मन्त्री रखने चाहिएं। जिनकी वैनयिकी बुद्धि हो, जो तेज, धैर्य, क्षमा, शौच, अनुराग, स्थिति और धृति सम्पन्न हों और जिनके मनोभाव की परीक्षा ले ली गई हो, उन्हे आर्थिक कार्यों मे नियुक्त करे। जो ठीक प्रकार से सलाह दे सकें, वीर हो, जिनमें प्रतिभा हो, कुलीन और सत्य-सम्पन्न हो, देश और काल का विधान जाननेवाले तथा स्वामिकार्य मे हितैषी हों, उन्हे मन्त्री बनाना चाहिए।

राजधर्म मे सबसे अधिक महत्त्व मन्त्र का है। अत यह बताया गया है कि किस प्रकार के व्यक्ति को अपना मन्त्र न बताना चाहिए क्योकि मन्त्र खुलने से राज्य के लिए कठिनाई पैदा हो जाती है। (अ० ८५)

मन्त्रिपरिषद् मे मन्त्रियो की सख्या आठ कही गई है और उन पदो पर योग्य व्यक्तियो की नियुक्ति पर बड़ा बल दिया गया है। धर्मासन या न्याय करनेवाले अधिकारी के गुणो का भी वर्णन किया गया है। पापियो को अपराध के अनुरूप दण्ड देना चाहिए। किसी के दूत का वध नही करना चाहिए। दूत, प्रतिहार, शिरोरक्ष, सधिविग्रहिक और सेनापति नामक अधिकारियो के गुणो का वर्णन भी किया गया है। इस प्रकार का अमात्यविभाग गुप्त युग के शासन मे प्रचलित था। (अ० ८६)

अध्याय ८७ मे दुर्ग-विधान और उसमे विविध प्रकार की सामग्री एव व्यक्तियो के सचय का विधान है।

इसके बाद अध्याय ८८ मे राष्ट्र-गुप्ति या जनपद-गुप्ति का विवेचन किया गया है। एक गाँव, दस गाँव, बीस गाँव, सौ गाँव और एक

सहस्र गांवो की इकाई बनाकर उनके अधिपति नियुक्त करने चाहिए। उनमें जो दोष हो, उनकी सूचना ग्रामिक बडे अधिकारी को दे। शत-ग्राम के अधिपति को एक गाँव और सहस्र गावो के अधिपति को एक शाखानगर भृत्ति के लिए दिया जाना चाहिए। ग्राम-शासन को देखने के लिए एक धर्मज्ञ सचिव की नियुक्ति होनी चाहिए। प्रत्येक नगर मे एक नगरचिन्तक की नियुक्ति आवश्यक है। बछडा जैसे गो का दूध पीता है, वैसे ही राजा को राष्ट्र में कर उगाहना चाहिए। राजा को उचित है कि सार्थवाह या बजारो के लिए भी उचित नियमो और कराधान की व्यवस्था करे। (अ० ८९)

राजा के कर ग्रहण करने की नीति ऐसी होनी चाहिए, जैसे बछडा दूध पीते समय गाय के थनो को चोट नही पहुँचाता, जैसे शहद लेने वाला मक्खियो के छत्ते को नष्ट नही करता, जैसे जोक जल में रहते हुए जल पी लेती है पर पता नही चलता। मनु ने यह व्यवस्था की थी कि कोई आपत्ति के विना किसी से भीख नही मागेगा। राजा का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र मे सबके लिए वृत्ति या जीविका का विधान करे और लोगो को ऐसे कार्यो मे लगावे जिसमे वे अर्थोपार्जन द्वारा स्वतन्त्रता से रह सकें। (अ० ९०)

: ७८ :

राजधर्म और अप्रमाद

इनके अनन्तर अङ्गिरा और मान्धाता के सवाद रूप में राजा के गुणो की प्रशंसा की गई है। राजा का जन्म धर्म के लिए होता है, काम के लिए नहीं (धर्माय राजा भवति न कामकारणाय तु। मान्धातरेवं जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता॥)। जो राजा लोकधर्म-रक्षारूप

राजधर्म का पालन करता है, वह देवता की पदवी प्राप्त करता है। यदि वह राजधर्म का आचरण नही करता तो नरक मे जाता है। सब प्रजाएँ राजधर्म मे स्थित है, राजधर्म राजा मे स्थित रहता है। वही राजा सच्चा है, जो राजधर्म का ठीक-ठीक अनुशासन करता है। राजा परम धर्मात्मा हो तो भी यदि वह धन बटोरने लगता है, तो उसे पाप धर दबाता है। यदि पाप का निवारण न किया जाय तो अधर्म बढ जाता है। प्रजाओं के मन मे ऐसी विह्वलता छा जाती है, मानों उन्हें कोई मार रहा हो। दोनों लोकों को समझ कर ही ऋषियो ने राजा का निर्माण किया कि यह महाप्राण व्यक्ति मूर्तिमान धर्म होगा। राजा वही है जिसमे धर्म विराजमान हो। जिसमे राजधर्म का लोप हो जाता है, उसे देवता वृषल कहते है। धर्म की वृद्धि से सब भूत बढते है। धर्म के ह्रास से प्रजाओ का ह्रास होता है। इसलिए प्रजाओं का अनुग्रह करने के लिए धर्म को बढाना चाहिए। फिर सर्वस्वो मे धर्म सबसे अधिक प्रिय वस्तु है। जो धर्म को चुनता है, वही राजा है। राजा काम और क्रोध को छोडकर धर्म का ही पालन करे। राजाओ के लिए धर्म सबसे अधिक श्रेयस्कर है। ब्राह्मण धर्म के स्रोत है, इसलिए उनका सम्मान करे। कहते है कि यज्ञ मे कुछ त्रुटि हो जाने से देवी श्री ने दर्प को जन्म दिया। दर्प ने देवो और असुरो को अपने वश मे कर लिया। जो उसे जीत लेता है। वही राजा है, जो उसके वश मे है वही दास है। राजा को प्रमादरहित होना चाहिए, अन्यथा उसे अनेक दोष घेर लेते है और राजा का नाश करने वाले अनेक उत्साह प्रकट हो जाते है। जो राजा स्वयं अरक्षित रहकर प्रजाओ की रक्षा नही करता, उसकी प्रजाएँ स्वयं क्षीण हो जाती है। यहाँ राजधर्म और राजा के प्रमाद तथा उन दोनो का तारतम्य या भेद बताया गया है। एक से धर्म और दूसरे से पाप बढता है।

मेघ समय से जल बरसायें और राजा धर्म का पालन करे, इन्ही दो बातो से प्रजाओ मे सुख-संपत्ति होती है। जो धोबी कपड़ो का मैल छुडाना नही जानता, उसका होना या न होगा एक-सा है।

एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह बताया गया है कि राजा ही युग है। सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग—ये सब राजधर्म से ही होते हैं। राजा ही प्रजाओं का कर्त्ता और राजा ही उनका नाशक है। धर्मात्मा उनको बनाने वाला और अधर्मात्मा उनको नष्ट करने वाला होता है। यदि राजा प्रमाद करता है, तो उसके पुत्र, मित्र, बन्धु-बान्धव और स्त्रियाँ सबको शोक का सामना करना पड़ता है। राजा को उचित है कि राज्य में किसी को दुर्बल न रखे। दुर्बल की हाय राजा को जला देती है। जब राजा के नौकर-चाकर जनपद में घुसकर प्रजा पर अत्याचार करने लगते हैं, तो उसका बड़ा पाप राजा पर पड़ता है। जब 'युक्त' संज्ञक राजपुरुष प्रजाओं का धन छीनने लगते हैं, तो वह राजा के लिए जैसे बड़ी हत्या हो। जब कोई महावृक्ष बढ़ता है, तो लोग उसका आश्रय लेते हैं। पर जब उसे काट डालते या जला देते हैं, तो उसका आश्रय लेने वाले घर-बार से रहित हो जाते हैं।

दान-देना और बाँट कर खाना, अपने अत्याचारी पुरुषों का दमन करना—यह राजा का धर्म है। मन, वचन, कर्म से सबकी रक्षा करना और पुत्र के अत्याचार को भी न सहना—यह राजा का धर्म है। शरणागतों की पुत्र-वत् रक्षा और मर्यादा का उल्लंघन न करना—यह राजा का धर्म है। बहुत दक्षिणायुक्त यज्ञों का अनुष्ठान करना, काम और द्वेष के वश में न होना—यह राजा का धर्म है। गरीब, अनाथ और वृद्धों के आँसू पोंछना, लोगों में हर्ष की वृद्धि करना—यह राजा का धर्म है। मित्रों को बढ़ाना, शत्रुओं को दबाना, और साधुओं का सम्मान करना—यह राजा का धर्म है। सत्य का पालन और नित्य भूमि का दान—यह राजा का धर्म है। अतिथियों और भृत्यों का भरण-पोषण—यह राजा का धर्म है। ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्य इनका उचित रीति से सम्मान करना और ये यदि कुपथ पर हों तो इनका निग्रह करना राजा का धर्म है।

सब भूतों का संग्रह, दान और मधुर वाणी, पौर-जानपद लोगों की रक्षा—यह राजधर्म है। किन्तु यदि राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता, तो राज-धर्म भार हो जाता है। दण्डवेत्ता, प्राज्ञ, शूर, ऐसा राजा प्रजाओं की रक्षा

कर सकता है। किन्तु अदण्डधर, क्लीव और अबुद्धि वाला राजा प्रजा की रक्षा नही कर सकता।

इसके बाद राजवृत्ति के रूप मे राजा के लिए कर्त्तव्याकर्तव्य का निर्णय किया गया है। इसके वक्ता नहुषपुत्र ययाति है।

वसुमना कौसल्य ने वामदेव से प्रश्न किया कि क्या कोई ऐसी युक्ति भी है कि युद्ध के बिना ही राजा देशो को जीत ले।[1]

युद्ध के द्वारा जो राज्य की विजय है, उसे जघन्य कहा गया है।

पहली बात तो यह है कि जो अपना नही है, उसकी लिप्सा न करे। अपने मूल राज्य को दृढ बनाना चाहिए। जिसका मूल दृढ नही है, उसे यदि कुछ मिल भी जाय तो उससे क्या लाभ। जिसका अपना जनपद लम्बा-चौडा, सपन्न और राजा से प्रेम करने वाला है और जिसके सचिव संतुष्ट और पुष्ट है, उस राजा को दृढमूल कहना चाहिए। जिसके योद्धा सुसंतुष्ट, और उन्हे सब प्रकार सान्त्वना से युक्त बनाया गया है, सुपरीक्षित है, ऐसा राजा अल्पदण्ड से ही देश विजय कर लेता है। जिसके पौर-जानपद (नगर और गाँव के लोग) अनुरक्त, सुपूजित, धान-धान्य से युक्त होते है, वह राजा दृढमूल है। जब राजा अपने प्रभाव और काल की अनुकूलता समझे, तब वह परायी भूमि और धन को जीतने की इच्छा करे। इसका सार यह है कि राजा को सर्वप्रथम अपने पिता-पितामह के राज्य को, सचिवों एव पौर-जानपद प्रजाओं को दृढ बनाना चाहिए। और तभी वह पराया देश जीतने की इच्छा करे। अन्यथा मूल भी जाता है और तूल भी नही मिलता। (अ० ९५)

---

१. अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेत् वसुधाधिपः।
जघन्यमाहुर्विजयं यो युद्धेन नराधिप ॥ (९५।१)

: ७९ :

विजिगीषु राजा का व्यवहार

(अ० ९६-१०७)

इन अध्याय में विजिगीषु या देश-विजय की इच्छा वाले राजा का वृत्त बताया गया है। उसका सार यह है कि विजय के मूल मे धर्म होना चाहिए, अधर्म नही। इसी को धर्म-विजय कहते है, या ऐसे राजा को धर्मविजयी कहते है। अधर्म-विजयी राजा अध्रुव और अस्वर्ग्य होता है। विजिगीषु राजा को चाहिए कि धर्म का लोप और मर्यादा का भेदन न करे। अधर्म द्वारा प्राप्त विजय से कोई लाभ नही है। कहा जाता है कि राजा प्रवर्धन ने विना भूमि को जीते ही शत्रु के पुर की अमृत औषधियो को प्राप्त कर लिया था। दिवोदास ने अग्निहोत्र के अग्निशेष हवि-र्भाजन का आहरण किया था, इस कारण वह निन्दा को प्राप्त हुआ। नाभाग अम्बरीष ने राज्य और राष्ट्रो को दक्षिणा मे दान दे दिया और श्रोत्रियो एवं तपस्वियो के धन की रक्षा की। इस प्रकार विजिगीषु राजाओ के ऊँचे-नीचे चरित है। अत माया या कपट से विजय की इच्छा न करे।

विजिगीषु की संग्राम मे मृत्यु

युधिष्ठिर के कथनानुसार विजिगीषु के लिए सग्राम मे त्यु प्रशसनीय है। पर क्षात्रधर्म से बढकर और कोई पाप नही था, क्योंकि अभियान और युद्ध मे राजा बहुतो की हिंसा करता था। भीष्म ने कहा, "पापियो के निग्रह और साधुओ के अनुग्रह से, यज्ञ एवं दान से, राजा पवित्र और निर्मल हो जाते है। विजयार्थी राजा जिन प्रजाओ का उपरोध करते है, पुन. विजय के बाद उन्हें बढाते है। दान, यज्ञ और तपोबल से पापियो का निरोध करते

और अनुग्रह से प्रजाओ को बढाते है। जैसे दांय चलाने वाला धान्य और घासफूँस (कक्ष), दोनों की हिंसा करता है, पर उससे धान्य का नाश नही होता है, ऐसे ही शस्त्रो के द्वारा विजय करने वाला भूतों की रक्षा करके अपने उस पाप से मुक्त हो जाता है। जो लोगों को धन की हानि, वध और क्लेश से बचाता है और शत्रुओं से प्राणदान देता है, वह सचमुच धन और सुख का देनेवाला होता है।

"वह यज्ञ करके और लोगो को अभय की दक्षिणा देकर इन्द्रपद प्राप्त कर लेता है। जो ब्राह्मणो के लिए सेना लेकर युद्ध करता है, वह अपने शरीर का यूप बनाकर मानो अनन्त दक्षिणा वाला यज्ञ करता है। युद्ध में जितने शस्त्र उसकी त्वचा का भेदन करते है, वह उतने लोकों को प्राप्त करता है। उसके शरीर से जितना रक्त बहता है, उतना ही वह पापो से मुक्त हो जाता है। वह अपने घावों से जितना कष्ट सहता है, उतना ही उसकी तपोवृद्धि होती है। वे अधम पुरुष है, जो युद्ध मे शत्रु को पीठ दिखाते है। ऐसे भगोडे क्षत्रिय को काठ और ढेलों से मारना चाहिए, भूसे की आग मे जला देना चाहिए। खाट पर मृत्यु क्षत्रिय के लिए अधर्म है। कफ और पित्त से कण्ठावरोध हो जाने पर हाय-हाय करते हुए मरना क्षत्रिय के योग्य नही है। जो अविक्षत देह से मृत्यु को प्राप्त करता है, उसकी कोई प्रशंसा नही करता। वीर क्षत्रिय की घर में मृत्यु प्रशंसनीय नही। यह कायरता, अधर्म और दीनता की बात है। जो दृप्त और अभिमानी वीर है, वह कभी अपने लिए ऐसा नही चाहता। क्षत्रिय की मृत्यु ऐसी हो कि रण में मारकाट का पराक्रम करे और तब अपने ज्ञातृयों के बीच मे प्राण छोड़े।" (अ० ९८)

अध्याय ९९ मे इन्द्र और अम्बरीष के संवाद-रूप मे संग्राम की तुलना यज्ञ से की गई है। इन्द्र ने कहा, "संग्राम मे हाथी ऋत्विक् है, घोडे अध्वर्यु, दूसरों का मांस हवि है। शृगाल, गृद्ध, काक और उलूक सदस्य है। ये आज्य का शेष भाग पीते है और हवि खाते है। भाले, बर्छे, तलवार, शक्ति, फरसे—ये स्रुक् है। धनुष से छूटे बाण स्रुव है। चीते की खाल

की म्यान में रक्खी हुई हाथी दांत की मूठवाली तलवार यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली 'स्फ्य' है। लोहे के बने हुए बर्छे, शक्ति और फरसो से लगा हुआ घाव ही यज्ञ का घन है। वेग से वहता हुआ रुधिर पूर्णाहुति है। 'छिन्धि-भिन्धि' इस प्रकार के घोप साम गान है। हाथी, घोडे और कवच-धारी सैनिको का समूह हविर्धान शकट है। सग्राम में प्रज्वलित अग्नि यज्ञ की श्येनचित् विधि है। उठकर युद्ध करने वाला कवन्ध मानो खदिर का वना यूप है। अठपहल अकुश से प्रेरित हाथी इडाह्वन या इडाहुति के समय प्रसन्नतायुक्त गान है। व्याघोप-युक्त नाद वपट्कार है। उद्गाता द्वारा किया जाने वाला त्रिसाम गान दुन्दुभि है। शत्रुओ के सिर रणभूमि में विछाना वेदि का वर्हि-आस्तरण है। युद्ध मे मृत्यु को प्राप्त शूर का शोक न करे[1]। उसके लिए श्राद्ध में अन्नोदक या जलाञ्जलि भी नही होती। जो मुख मे तृण रखकर ऐसा कहता है कि मै आपकी शरण में हूँ, उसे नही मारना चाहिए। वृत्र, वल, पाक, विरोचन, नमुचि, संवर, और प्रह्लाद को युद्ध मे मारकर मै देवराज इन्द्र वना हूँ।" (अ० ९९)

युद्ध में पीठ दिखाकर भागने वालो को मारना नही चाहिए। शूर की भुजाओ मे यह लोक पुत्र के समान लटका हुआ है। तीनो लोको मे शौर्य से वढकर कुछ नही है। शूर सवका पालन करता है और उसी में सवकुछ प्रतिष्ठित है। इस प्रकार विजिगीषु राजा का शौर्य प्रशसनीय होता है। (अ० १००)

अर्थ-धर्म-साधन के औपयिक याउपाय

राजा जिन उपायो को अर्थ और धर्म की सिद्धि के लिए व्यवहार में लाता था उन्हें प्राचीन राजभापा मे 'औपयिक' कहा जाता था। दस्यु (डाकू) और लुटेरे मर्यादा-रहित होते है। उनके विघात या नाश के ही ये उपाय है। सीधी और टेढी, दो प्रकार की वुद्धियां है (उभे प्रज्ञे वेदितव्ये ऋज्वी वक्रा

---

१. इस प्रकार युद्ध और यज्ञ की तुलना में इक्कीस समानताओं का रूपक वाँधा गया है।

च भारत १०१।४)। जानबूझकर टेढी चाल का आश्रय न ले और यदि वह आ भी जाय, तो उसे रोके। शत्रु ही टेढी चाल का प्रयोग करते है। उसे पहचानकर राजा उस की काट करे।

हाथियो की बगली का चमडा, सांड और अजगर का चमडा, (अर्थात् इन चमड़ो से बनी हुई ढाल, दस्ताने आदि), शल्य या लोहे का सीलदार कवच, ये शरीर की रक्षा करने वाले हैं। शस्त्रो को तेज धारयुक्त बनाना चाहिए और संनाह या कवच भी लोहे के होने चाहिएं। पताका और केतु अनेक रगो मे रगे जाय। भाले, बरछे, खड्ग और फरसो को धार रखवाकर तेज बनवाना चाहिए। चमडे की अनेक ढाल तैयार करवानी चाहिएं। चैत्र या अगहन की पूर्णिमा के दिन सैनिक प्रयाण अच्छा कहा जाता है। उस समय खेतो मे फसल पक जाती है और जलवायु भी अधिक शीत या उष्ण नही होती। उस समय पानी और धान्यवाले मार्ग से प्रयाण करे।अथवा, जब शत्रु पर आपत्ति हो वैसा समय चुने। इसके बाद चतुरगिणी सेना के लिए उचित भूमि का वर्णन किया गया है। सेना-संगठन के लिए दशाधिपति, शताधिपति और सहस्राधिपति नेताओ की नियुक्ति करनी चाहिए। सब प्रमुख लोगो को एकत्र करके शपथ दिलानी चाहिए कि 'हम संग्राम मे एक दूसरे का साथ नही छोडेंगे। जो कायर हो, वे अभी छोड कर चले जायं। घमासान युद्ध के समय छोड़ना ठीक न होगा। युद्ध के समय जो भागता है, वह अपने आपका और पक्ष का नाश करता है। पलायन से द्रव्यनाश, अयश तथा अकीर्ति होती हैं'। इस प्रकार शपथ लेकर वीर लोग शत्रु की सेना मे घुस पड़ते है। युद्ध मे ढाल-तलवार लेकर लड़ने वाले पैदल सैनिको को सबसे आगे रखना चाहिए। उससे पीछे शकट सेना होनी चाहिए। यदि थोडी सेना को बहु-संख्यक सेना से युद्ध करना पडे तो सूचीमुख व्यूह की रचना करनी चाहिए। एक दूसरे का हाथ पकड कर ऐसा घोष करना चाहिए कि 'शत्रु भाग रहे हैं।' 'हमारे अपने मित्र सहायता के लिए आ गये हैं।' क्ष्वेड, कडके का शब्द, किलकिला शब्द, लेजिम (क्रकच), शंख, गोविपाणिका (तुरही),

भेरी, मृदङ्ग और पणव आदि का शोर करना चाहिए। (अ० १०१)

अध्याय १०२ में प्राचीन भारत की विभिन्न सैनिक टुकडियो की युद्ध-कला का परिचय दिया गया है। गन्धार, सिन्धु और सौवीर के लोग तेज भालो से युद्ध करते हैं। उशीनर (पजाव मे झग-मगझियाना) जनपद के लोग सभी शस्त्रो के चलाने मे कुशल होते हैं। प्राच्य देशवासी गज-युद्ध में और कपट-युद्ध में कुशल होते हैं। यवन, काम्बोज, और मथुरा के निवासी सभी मोर्चों पर शूर-वीर, वडे हिम्मती और वलशाली होते हैं। अध्याय १०३ मे विजिगीषु राजा की सेना में रहने वाले शूरो के लक्षण कहे गये हैं।

इस के अनन्तर यह वताया गया है कि मृदु या तीक्ष्ण शत्रु पर किस प्रकार आक्रमण और प्रहार करना चाहिए। मित्र और शत्रु के लक्षण भी वताये गए है। (अ० १०४)

अध्याय १०५ मे कालकवृक्षीय मुनि और राजा क्षेमदर्शी के सवाद-रूप में ससार के सब पदार्थो की अनित्यता और अध्रुवता का वर्णन किया गया है। कहा गया हैं कि राजा को चाहिए कि कन्द-मूल खाकर वन में रहे। सभव है, यह उस समय के किसी वनवासी मुनि का मत हो। किन्तु यह राजधर्म का शुद्ध रूप नही था। इसके उत्तर में तुरन्त ही पुरुषार्थ-वादी क्षात्रधर्म का उपदेश किया है, जिसमें पहली मुख्य वात अपने राज्य की सुव्यवस्था है, और दूसरी शत्रु के कोश के क्षय का उपाय है। कुछ अंशो में छल-कपट की नीति का प्रयोग भी उचित वताया गया है, जैसे शत्रु के सामने दैव या भाग्य की प्रशंसा करनी चाहिए, क्योकि जो पुरुषार्थ को छोडकर भाग्य पर निर्भर करने लगता है, वह अवश्य नष्ट हो जाता है।

---

१. अथ चेत् पौरुष किंचित् क्षत्रियात्मनि पश्यति।
ब्रवीमि हन्त ते नीति राज्यस्य प्रतिप्रत्तये॥ (१०६।१)
निन्द्यास्य मानुपं कर्म दैवमस्योपवर्णय।
असंशयं दैवपर. क्षिप्रमेव विनश्यति॥ (१०६।२०)

किन्तु राजकुमार को इस प्रकार की कूटनीति का प्रयोग अच्छा नही लगा। तब उसके गुरु कालकवृक्ष मुनि ने वैदेह जनक को समझाकर दोनो का मेल करा दिया। (अ० १०७)

: ८० :

गणों का वृत्त

इसके अनन्तर युधिष्ठिर ने एक नया प्रकरण छेडा। अब तक वे राज-धर्म के इतने विषय सुन चुके थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों के धर्म, वृत्त (आचार-विचार) और जीविका के साधन तथा फल, राजाओ के वृत्त, देश, कोशसंचय, अमात्यों की गुणवृद्धि, प्रकृतियों का वर्धन, षाड्गुण्य, गुणो की कल्पना, सैनिक नीति, दुष्ट की पहचान, अदुष्ट का लक्षण, अपने से सम, हीन और अधिक के लक्षण और मध्यम की तुलना मे वृद्धिशील की स्थिति, संग्रह या संचय के क्षीण हो जाने पर आवश्यक कर्तव्य और विजिगीषुवृत्त। यह राजधर्म का एक पक्ष था। अब गण राज्यो के सविधान और उनकी विशेषताओ के विषय में भी विचार करना आवश्यक था। राजधर्मरूपी रथ का यह दूसरा पहिया था। गणराज्यों मे लोभ और क्रोध से फूट पड जाती है। एक कुटुम्ब के व्यक्ति-लोभ के अधीन हो जाते है और दूसरों मे क्रोध उत्पन्न हो जाता है। उनमे क्षयधर्म या नाश की प्रवृत्ति का उदय हो जाता है। तब वे आपस मे गुप्तचर, मन्त्रबल, साम, दान और भेद का आश्रय लेकर एक दूसरे का क्षय करने लगते है। मेल रखने वाले गणो मे भी फूट पड जाती है। फूट पड़ने से सब शत्रु के वश मे चले जाते है। गणों के नाश का मुख्य कारण भेद या फूट है—भेदाद्गणाः विनश्यन्ति भिन्नाः सूपजपाः परैः (१०८ । १४)। फूट पड़ने से शत्रु उन्हे अलग टुकडो मे बाँट देते है। इसलिए गणो को चाहिए कि सदा अपना संगठन ठोस

बनावें। सघात (मेल-जोल) की नीति से ही गण अर्थ प्राप्त करते है। जब उनमें ठोस मेल होता है, तो बाहर के लोग भी उनसे मेल चाहते है। उन्हे चाहिए कि ज्ञानवृद्धो की प्रशसा और सेवा करें। इस प्रकार फूट से विनिवृत्त होकर वे सर्वथा सुखी होते है। उत्तम गणो की यह विशेपता है कि वे शास्त्र के अनुसार धर्मिष्ठ व्यवहारो की स्थापना करते है। जैसा चाहिए वैसे उनके व्यवहार से गणो की निरन्तर वृद्धि होती है। पुत्र और भाइयो का निग्रह करने से, सदा विनय का पालन करने से और जो विनीत है उनका सम्मान करने से, गणो की वृद्धि होती है। गुप्तचर और मन्त्र के सम्पर्क-विधान से, कोश का सग्रह करने से, गणो की सब ओर से वृद्धि होती है। जो गण अपने यहाँ प्राज्ञ, शूर, महाधनुर्धारी, एवं दृढ पौरुष से युक्त व्यक्तियो का सम्मान करते है, वे वृद्धि को प्राप्त होते है। द्रव्यवन्त, शूर-वीर, शस्त्र और शास्त्र के जानने वाले और कठि-नाइयो में भी असमूढ रहनेवाले सदस्य लोग गणो का उद्धार करते है। क्रोध, भेद, भय, दण्ड, नीचे घसीटना, इन दोपो से गण शत्रु के वश में पड जाते है। इसलिए सर्वप्रथम जो गणमुख्य या सघ के प्रधान नेता है, उनका सम्मान करना चाहिए। लोक की समृद्धिपूर्ण जीविका उन्हीके अधीन है। गण में जो मुख्य नेता है, उन्हे ही गुप्तचरो का हाल जानना चाहिए, और गुप्त मन्त्र भी उन्ही तक सीमित रहना चाहिए। सम्पूर्ण गण को मन्त्र का ज्ञान होना ठीक नही।[1]

गण मुख्यो को मिलकर या एकत्र बैठकर गण का हितकार्य करना चाहिए। यदि भिन्न-भिन्न मत रखने वाले सम्पूर्ण गण के लोग, जहाँ फूट और मतभेद भी है, गण के कार्य पर विचार करते है, तो उसका फल उलटा होता है। उससे अर्थ का क्षय हो जाता है और अनर्थ बढ जाता है। पर-स्पर मतभेद रखने वाले और उसी में अपनी शक्ति का अपव्यय करनेवाले

---

१. मन्त्रगुप्तिः प्रधानेपु चारश्चामित्रकर्षन।
न गणाः कृत्स्नशो मन्त्र श्रोतुमर्हन्ति भारत ॥ (१०८।२४)

सदस्यो का निग्रह करना चाहिए। गण-प्रधान को तो शीघ्र ही इस विषय मे कार्य करना उचित है। यदि कुलवृद्ध कुलों मे उत्पन्न हुए कलह की ओर ध्यान नही देते तो उससे कुलो मे फूट पडती है और गणो मे संभेद हो जाता है। भीतरी और बाहरी भय से भी गण की रक्षा करनी चाहिए। भीतरी भय से शीघ्र ही गण की जडें खोखली हो जाती है। जब आकस्मिक क्रोध, लोभ अथवा मोह के कारण गणो के सदस्य एक-दूसरे से बोलना बन्द कर देते है, तो बस गण के पराभव का लक्षण है। यह उल्लेखनीय है कि गण मे जितने कुल होते है, वे आपस मे बराबर है और उनके सदस्य भी जन्म से समान अधिकार रखते है। उनमे शौर्य, रूप और द्रव्य के कारण भी छोटाई-बडाई नही मानी जाती। इसलिए शत्रु उनमे फूट डालकर और प्रमाद फैलाकर उन्हे वश में कर लेते है [1]। इसलिए सघात या पारस्परिक मेल को ही गण या सघ का मुख्य गुण कहते है। (अ० १०८)

युधिष्ठिर को ऐसा प्रतीत हुआ मानो यह गणधर्म बहुमुखी और बहुत भेदवाला है, इसलिए उन्होंने जानना चाहा कि इस गण-वृत्त मे मुख्याचरण के योग्य बात क्या है? भीष्म ने उत्तर दिया, "माता, पिता और गुरुओ की पूजा मेरी दृष्टि मे मुख्य है। ये जिसे धर्म कहे, उसे ही धर्म मानकर चलना चाहिए। बिना उनकी अनुमति के अन्य किसी आचार को धर्म मान बैठना ठीक नही। माता, पिता और गुरु—ये ही तीन लोक है। ये ही तीन आश्रम है। ये ही तीन वेद और ये ही तीन अग्नियाँ है [2]।" यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि युधिष्ठिर का प्रश्न कुछ और था और उसका उत्तर कुछ और दिया गया। प्रश्न यह था कि गण का मुख्य कर्तव्य क्या है। उत्तर दिया गया कि मात-पिता की सेवा करो। बात कुछ असगत होते हुए भी गण के

---

१ जात्या च सदृशा सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
न तु शौर्येण बुद्ध्या वा रूप द्रव्येण वा पुनः॥ (१०८।३०)

२. एत एव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः।
एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः॥ (१०९।६)

सविधान के अनुसार संगत है। गण की इकाई कुल था। कुल, गृह या गोत्र का जो वृद्ध या बडा-बूढा होता था वही उस कुल की ओर से गण-सभा का प्रतिनिधि होता था। प्रत्येक कुलवृद्ध की उपाधि 'राजा' होती थी। इसी दृष्टि से लिच्छविगण में ७७०७ कुल और राजा माने जाते थे। उन्ही कुलो के प्रतिनिधियो से, जो 'गोत्र' कहलाते थे, गण-सभा बनती थी। कुलवृद्ध के अनन्तर कुल का प्रतिनिधि उसका 'गोत्रापत्य' होता था, जैसे गर्ग का गार्ग्य। इस दृष्टि से यह सबसे आवश्यक था कि कुल का शासन कुलवृद्ध की मुट्ठी में हो और उसके पुत्र और पौत्र, कुल की नीति का पूरी तरह पालन करने वाले हो। जाति-बिरादरी की सभाओ में भी कुलवृद्ध या स्थविर ही कुल का प्रतिनिधित्व करता था, अथवा उसकी अनुमति से उसका पुत्र भी जा सकता था। इस सवैधानिक परिस्थिति का परिणाम यह था कि गण की नीति का निर्माण कुल की नीति के रूप मे देखा जाता था। अत. पुत्र या पौत्र के लिए माता, पिता और गुरु इन तीनो की धर्मभाव से सुश्रूषा—यही गण के आन्तरिक व्यवहार की सबसे बडी विशेषता थी।

"दस आचार्यों के तुल्य पिता है, और दस पिताओ के तुल्य माता का पद है। जो सार्थक वचन से व्यक्ति के कान खोलता है, जो कृत वचन कहकर अमृत का प्रदान करता है, उसी को पिता-माता कहते है। अतः उसके भारी उपकार को जानकर उससे द्रोह नही करना चाहिए। गुरु का पद भी कम महत्त्व का नही है। वह विद्या देता है और व्यक्ति की बुद्धि को खोल देता है। अतः जो पुराण धर्म के पालन की इच्छा करे, उसे गुरु और माता का पूजन करना चाहिए।" (अ० १०९)

अध्याय ११० में सत्यानृत (सच-झूठ) और धर्म का विवेचन किया गया है। यहाँ धर्म की परिभाषा इस प्रकार है—

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजा.।
यत्स्याद्धारणसयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥ (११०।११)

किन्ही का मत है कि वेद-ही धर्म है, कोई ऐसा नही मानने। हमारा इन दोनो में से किसी से झगडा नही है। धर्म का जितना विस्तार है, उस

सबका विधान शब्दो मे नही किया जा सकता। (अ० ११०)

अध्याय १११ के २८२ श्लोको में कठिनाइयो या विषम स्थितियो से पार पाने के लिए सद्वृत्तियो का वर्णन है। 'दुर्गाण्यतितरन्ति ते'—इस वर्णन की टेक है।

युधिष्ठिर ने राजधर्म के सिलसिले मे एक और प्रश्न किया कि सौम्य और असौम्य, इन दो प्रकार के व्यक्तियो को अलग-अलग कैसे पहचाना जाय। इसके उत्तर में गोमायु और व्याघ्र इन दोनो की कथा का दृष्टान्त कहा गया है। इनमे शृगाल धर्मात्मा था। उसकी एक व्याघ्र से मित्रता हो गई। किन्तु कुछ चुगलखोरों ने दोनों में फूट डाल दी। अन्त मे शृगाल ने अपनी स्पष्टोक्ति से उसे पुनः अनुकूल बनाया। राजा और उसके सचिवों मे भी ऐसी घटनाएँ हुआ करती हैं। यह सुन्दर आख्यान गुप्त युग के नीति-शास्त्र लेखकों की रचना जान पडती है। इसकी परिभाषा और शब्दावली उसी युग की है। (अ० ११२)

अध्याय ११३ मे राजा के कर्तव्य के विषय में प्रश्न का उत्तर देते हुए एक ऊँट की कहानी दी गई है, जिसने अपने तप से ब्रह्मा को प्रसन्न करके सौ योजन लम्बी ग्रीवा का वरदान प्राप्त किया। जब मेह-पानी आया तो उसने अपनी गरदन पहाड की खोह मे रख दी। पर फिर उसे छोटी न कर सका और एक भूखे शृगाल ने उसमे घुसकर उसे खा डाला। इसी प्रकार राजा को बहुत पैर न फैलाना चाहिए। (अ० ११३)

युधिष्ठिर ने यह प्रश्न उठाया कि साधनहीन दुर्बल राजा का शत्रु बल-वान् हो तो उसे क्या करना चाहिए। इसके उत्तर मे नदी और समुद्र के संवाद द्वारा उनका समाधान किया गया है। समुद्र ने प्रश्न किया कि बड़े-बड़े पेड़ नदी के किनारे बह जाते हैं, किन्तु छोटी-सी बेंत अपने स्थान पर अचल रहती है। गंगा ने उत्तर दिया कि वृक्ष अपनी अकड़ मे आंधी और पानी के सामने नही झुकते, किन्तु बेंत बेचारी झुक जाती है। राजनीति में इसे 'वैतसी वृत्ति' कहते थे। आक्रमणकारी शत्रु के सामने झुक कर जो राजा अपनी रक्षा करता था वह इस प्रकार वैतसी वृत्ति का आश्रय लेकर

अपने को बचा लेता था। दुर्बल को बलवान् के सामने ऐसा ही करना चाहिए।[1] कालिदास ने 'रघुवंश मे इसका उल्लेख किया है—

अनभ्राणा समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव ।
आत्मासंरक्षित. सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ॥ (४।३५)

अर्थात् सुह्म या ताम्रलिप्ति के राजा ने रघु के सामने वैतसी वृत्ति से अपनी रक्षा की। ज्ञात होता है, गुप्त राजनीति का यह एक सम्मत दृष्टि-कोण था। (अ० ११४)

यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि कोई प्रगल्भ-मूर्ख राजसभा मे बुरा-भला कहने लगे, तो क्या करना चाहिए। उत्तर में कहा गया है कि उसे टें-टें करती हुए टिटहरी के समान मानकर उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। उसके वचन सह लेने से अपना पाप धुल जाता है। उसे अपनी श्लाघा ही समझना चाहिए। अन्त में वह स्वय लज्जित होकर सूखे हुए ठूंठ वृक्ष की तरह हो जाता है। जिसने आत्म-दमन किया है, वह इस प्रकार के अधम पुरुष की उपेचा करता है। जिसने दमन किया है, वह उस प्रकार के खल को ध्यान में नही लाता। जो वह कहे, उसे सह लेना चाहिए। क्षुद्र पुरुप द्वारा की हुई प्रशसा और निन्दा से कुछ लाभ नही। जगल में जैसे कौआ काव-काव करता है, वैसे ही उसका कथन निरर्थक है। जो सामने गुणवादी है और पीछे निन्दा करता है, वह कुत्ते की तरह स्वय नष्ट हो जाता है। यथासभव ऐसे अल्पचेता व्यक्ति को कुत्ते के जुठारे हुए मास की तरह त्याग देना चाहिए। जो दुरात्मा किसी महात्मा की निन्दा करता है, वह अपने ही दोषो को प्रकट करता है, जैसे कोई सॉप अपने फुफ्कारते फणो को दिखलाता है। जो अपनी आदत के अनुसार कुवचन कहने वाले दुष्ट का उत्तर देना चाहता है, वह गधोके समान धूल में लोटता है। ऐसे दुष्ट को मनुष्यो को खाने वाले भूखे भेडिए के समान, उन्मत्त

---

१. एवमेव यदा विद्वान्मन्येतातिबलं रिपुम् ।
सश्रयेद्वैतसी वृत्तिमेव प्रज्ञानलक्षणम् ॥ (११४।१४)

चिंघाडने वाले हाथी के समान, भोंकने वाले क्रोधी कुत्ते के समान, छोड देना चाहिए। उस पापी को धिक्कार है, जो सदा शत्रुका-सा व्यवहार करता है। जो इस प्रकार की दृष्टि रखता है, उसके पास कोई भी अप्रिय वचन नही खटक सकता। (अ० ११५)

दुर्वृत्त और दुरात्मा व्यक्ति के विपय मे भीष्म का समाधान सुनकर युधिष्ठिर ने यह जानना चाहा कि अपने पुत्र-पौत्रो के सुख के लिए और अन्न-पान द्वारा अपने शरीर के सुख के लिए क्या करना चाहिए (अ०११६)। राष्ट्र की वृद्धि का क्या उपाय है ? मूर्धाभिपिक्त राजा को अपने मित्रो के साथ प्रजारंजन कैसे करना चाहिए ? यदि वह शत्रुओ से घिरा हो, तो भी प्रजाओं को प्रसन्न करने का क्या उपाय है ? जिसके भृत्य बिगड जाते है, उस राजा को भृत्यो द्वारा किये कार्यों से कोई लाभ नही होता। गुण-युक्त भृत्य कैसे होने चाहिएं ? क्योकि बिना भृत्यो के अकेला राजा राज्य की रक्षा नही कर सकता ? भीष्म ने उत्तर दिया, "जिसके भृत्य ज्ञान-विज्ञान मे पण्डित, हितैषी, कुलीन और स्नेही होते हैं, वही राजा राज्य का फल प्राप्त करता है। जिसके मंत्री कुलीन, सहवासी और हितकारी सलाह देने वाले होते है, वह राजा राज्य का फल पाता है। अनागत विपत्ति का पहले से ही प्रतीकार करनेवाले, काल का ज्ञान रखने वाले, बीते हुए कष्टों का सोच न करनेवाले मन्त्रियो को पाकर राजा राज्य का फल प्राप्त करता है। जिसके सहायक मंत्री दुःख-सुख मे समान रहते है, सत्य के अनुसार कार्य करनेवाले और अर्थ की चिन्ता करनेवाले होते है, वह राजा राज्य-फल भोगता है। जिसके जनपद मे कोई दुःखी नही होता, जो अक्षुद्र और सत्पथ का आश्रय लेता है, वह राजा राज्य-फल पाता है। जिसके वित्ताधिकारी कोप की वृद्धि करते है, वह राजा उत्तम है। जिसके पुश्तैनी चले आ रहे आप्त पुरुष अलुब्ध और योग्य होकर कोष्ठागार मे संचय बढाते है, वह राजा गुणयुक्त होता है। जिसके नगर मे सब व्यवहार ईमानदारी और सच्चाई से किये जाते है, जैसा शंख और लिखित दो मुनि भाइयो की कथा मे मिलता है, वह राजा धर्म-फल का भागी होता है। जो धर्म-

वित्त राजा अच्छे मनुष्यो का संग्रह करता है और षड्वर्ग (संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एव समाश्रय) का सेवन करता है, वह राजधर्म का फल प्राप्त करता है।" (अ० ११६)

: ८१ :

राजभृत्यों के गुण-दोष

इसके अनन्तर एक वढिया कहानी के दृष्टान्त से बताया गया है कि दुष्ट के साथ कितना भी अच्छा व्यवहार करो, वह अपनी योनि के अनुकूल कुटिल स्वभाव को प्रकट करता ही है। वन में किसी ऋषि के आश्रम में एक कुत्ता रहता था। वह चीते से डरता था। ऋषि ने उसे चीता वना दिया। फिर क्रमश· ऋषि ने उसे वाघ, हाथी, शेर और अन्त में शरभ वना दिया। वह ऋषि पर ही झपटा, तव ऋषि ने फिर उसे कुत्ता वना दिया। इस भाति ही दुष्ट भृत्यो का व्यवहार भी समझना चाहिए। यहाँ चौक्ष, नेता, नीतिकुशल, शक्तिशाली, मृदुवादी, धीर, महर्द्धि, देशकालोपपादक, शास्त्रविशारद, धर्मपरायण, प्रजापालनतत्पर, पवित्र, श्रोता, सुश्रूषु, ऊहापोह में पटु, मेधावी, न्यायोपपादक, दान्त, प्रियभाषी, क्षमावान्, सुखदर्शन, आर्तजनों के सहायक, नयरत, नाहवादी, निर्द्वन्द्व, भृत्यजन-प्रिय, प्रसन्नवदन, दाता, सुमहामना, युक्तदण्ड, निर्दण्ड, धर्मकार्यानुशासक, चारनेत्र, धर्मार्थ-कुशल, योद्धा, मनुष्येन्द्र, सुपुरुष, समरशौटीर, कृतज्ञ, शास्त्रकोविद, अर्थवान्, विवृद्ध, मित्राढ्य आदि विशेषण राजा के लिए प्रयुक्त हुए है। (अ० ११८)

राजसेवको के गुणो की निम्न सूची उसी प्रकार की है जैसी स्कन्द-गुप्त के गिरनार लेख में पर्णदत्त और चक्रपालित के विपय में पाई जाती है। लेखक द्वारा इसे गुप्त युग के सरकारी सचिवालय से लिया

गया जान पडता है—कुलीन, शिक्षित, प्राज्ञ, ज्ञान-विज्ञान-कोविद्, सर्वशास्त्रार्थ-तत्त्वज्ञ, सहिष्णु, देशज, कृतज्ञ, बलवान्, क्षान्त, दान्त, जितेन्द्रिय, अलुब्ध, लब्धसंतुष्ट, स्वामी, मित्र-बुभूपक, सचिव, देशकालज्ञ, सर्वसग्रहणरत, सत्कृतयुक्त, हितैपी, अतन्द्रित, युक्ताचार, संधिविग्रह-कोविद, त्रिवर्गवेत्ता, पौरजानपद-प्रिय-खातक-व्यूह, तत्त्वज्ञ, बलहर्षण-कोविद, इङ्गिताकार-तत्त्वज्ञ, यात्रायान-विशारद, हस्तिशिक्षा-तत्त्वज्ञ, अहकारविवर्जित, प्रगल्भ, दक्षिण, दान्त, बली, युक्तकारी, चौक्ष, चौक्षजनाकीर्ण, सुवेश, सुखदर्शन, नायक, नीतिकुशल आदि विशेपण सेवक के लिए प्रयुक्त हुए हैं। भृत्यो के साठ गुणो के समान राजा के गुणो की सूची दी गई है।

राजा को चाहिये कि भृत्यो को गुणो के अनुरूप पद और कार्य सौपे। राज्यभृत्य सिंह, व्याघ्र और द्वीपी के समान होते हैं। उचित स्थान और कार्य मिलने से ही वे अपना पराक्रम दिखलाते हैं। जो राजा भृत्यो को उलटे-पुलटे स्थान में लगाता है, वह प्रजारञ्जन नही कर सकता। जो व्यक्ति अक्षुद्र, शुचि, दक्ष हो, उन्हे राजा अपना पारिपार्श्विक बनाये। राजा के नम्र, अधीन, क्षमाशील, पवित्र, और अनुजीवी बाह्य-चर प्राण के स्वरूप होते हैं। सिंह के पार्श्व मे सिंह के ही रहने की शोभा है। राजाओ को सदा कोश की रक्षा करनी चाहिए। कोश ही राजाओ का मूल है।[1] कोश-मत्री को चाहिए कि कोष्ठागार मे धान्य-समृद्धि का सचय करे। इस प्रकार की नैष्ठिकी बुद्धि और प्रज्ञा का अभ्यास करना चाहिए।

(अ० ११९)

अध्याय १२० मे राजधर्मो के प्रणय और स्वीकृतिपूर्वक पालन का आदेश दिया गया है। भूतो की रक्षा, यही क्षात्र धर्म है। जैसे गरुड़ अपनी पीठपर चित्र-विचित्र कलगियो का भरण करते है, ऐसे ही राजा को

---

१. कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः।
कोशमूला हि राजानः कोशमूलकरो भव ॥ (११९।१६)

भी वहुविध रूप या साज-सज्जा रखनी चाहिए। तेजी, कुटिलता और इन्द्रिय-लोलुपता को दूर रखकर सच्चाई और सीधेपन से बरतने वाला राजा सुख पाता है। जो रूप जिस कार्य के योग्य हो, वही रूप राजा को दिखाना चाहिए। जो राजा इस प्रकार वहुत से रूप दिखा सकता है, उसका छोटा काम भी नही बिगडता। जैसे शरद् ऋतु का मोर चुप रहता है, ऐसे ही राजा को भी अपना मन्त्र छिपाये रखना चाहिए। आपत्ति के स्थानो में राजा को पहाडी झरनोकी तरह विद्वान् मंत्रियो का आश्रय लेना चाहिए। बुद्धि के अनुसार आत्मगुणो की प्राप्ति, यही शास्त्र का निचोड है। जिसका रोष और हर्ष अमोघ होता है, जो स्वयं कार्यों का अवेक्षण करता है, कोश को जो अपने अधीन रखता है, उसके लिए पृथिवी सचमुच रत्नधात्री वन जाती है। जैसे भँवरा फूलो से शहद चुन लेता है, वैसे ही राजा प्रजाओ से द्रव्य का सचय करें। संग्रह के साथ-साथ राजा को दानी भी होना चाहिए। अध्याय १२० में मत्री और राजा के गुणो का पुन वर्णन करते हुए राजा के आचार की पुन व्याख्या की गई है और कहा गया है कि वह उदार व्यक्तियो को अपने पास रक्खे, लुब्धको को नही।

युधिष्ठिर ने पुन. व्यवहार-पूर्ण प्रश्न पूछा, "आप ने चराचर लोक को दण्ड के अधीन कहा है। उस महातेजस्वी सर्वत्र व्याप्त दण्ड का स्वरूप क्या है? दण्ड क्या है? दण्ड कैसा है? दण्ड का रूप क्या है, और वह किसका आश्रय लेता है? दण्ड की आत्मा क्या है? वह वस्तुतः कैसा है? उसकी मूर्तियाँ कितनी है? उसका स्वामी कौन है? वह दण्ड प्रजाओ में कैसे जागता है? कौन पूर्वापर की रक्षा करता हुआ प्रजाओ में जागता है? पहले और पीछे किसे दण्ड कहा गया है? दण्ड का स्थान क्या है? उसकी गति क्या है?"[1]

---

१ सर्वेषा प्राणिना लोके तिर्यक्ष्वपि निवासिनाम्।
सर्वव्यापी महातेजा दण्ड श्रेयानिति प्रभो ॥३॥
इत्येतदुक्त भवता सर्वं दण्ड्यं चराचरम्।
को दण्ड कीदृशो दण्ड. किंरूपः किंपरायण. ॥४॥

भीष्म ने उत्तर दिया, "हे युधिष्ठिर, दण्ड का व्यवहार किससे होता है और क्या है ? यह सुनो ! सारा लोक जिसके अधीन है, वह केवल दण्ड मात्र ही है। धर्म का नाम व्यवहार है। लोक मे सतत सावधान रहने वाले पुरुष के धर्म का किसी प्रकार लोप नही, इसीलिए दण्ड की आवश्यकता है। और, यही व्यवहार का व्यवहारत्व है। पूर्व काल मे मनु ने कहा था कि जो प्रिय और अप्रिय को समान समझकर दण्ड का व्यवहार करता है, जो प्रजा की रक्षा करता है, वह राजा शुद्ध धर्म का स्वरूप है। सुप्रणीत दण्ड से ही त्रिवर्ग प्रवृत्त या सफल होता है। दण्ड ही शरीरधारी देवता है। जैसे लपटो वाली अग्नि होती है, दण्ड का ऐसा रूप समझना चाहिए। वह नील कमल के समान साँवले रंग का है। उसकी चार दाढ और चार भुजाएँ होती है। उसके आठ पैर और तीन नेत्र होते है। उसके कान खूँटे की भाँति ऊपर उठे रहते है। उसके सिर पर लम्बी जटाएँ होती है। उसके मुख मे दो जिह्वाएँ है। उसका मुँह लाल होता है। उसकी त्वचा शेर के समान होती है। दण्ड का यही मूर्त रूप देखा गया है। तलवार, गदा, धनुष, शक्ति, त्रिशूल, मुग्दर, बाण, मूसल, फरसा, चक्र, बर्छा, डंडा, भाला और तोमर आदि इन सभी हथियारो को लिए हुए दण्ड साक्षात् लोक में घूमता है। वही अपराधियों को भेदता, छेदता, पीड़ा देता, काटता, चीरता, फाडता तथा मरवाता है। इस प्रकार दण्ड ही सब ओर घूमता-फिरता है। प्राचीन धर्मशास्त्रियो की परिभाषा मे दण्ड शब्द के अनेक पर्याय माने जाते थे, जो इस प्रकार है—तलवार, विशसन, मारकाट, धर्म, तीक्ष्णकवच, दुराधर, श्रीगर्भ, अपने गर्भ मे लक्ष्मी

किमात्मक. कथभूत: कतिमूर्ति: कथंप्रभु:।
जागर्ति स कथं दण्ड: प्रजास्ववहितात्मक: ॥६॥
कश्च पूर्वापरमिदं जागर्ति परिपालयन्।
कश्च विज्ञायते पूर्वं कोऽपरो दण्डसंज्ञित.।
किंसंस्थश्च भवेद्दण्ड: का चास्य गतिरिष्यते ॥७॥

धारण करने वाला या श्री का पुत्र, विजय, शास्ता, व्यवहार, सनातन, शास्त्र, ब्राह्मण, मंत्र, धर्मपाल, अक्षर, देव, सत्यगामी, नित्यरूप, अग्रज, असङ्ग, रुद्रपुत्र, मनु, ज्येष्ठ और शिवकर आदि।" ज्ञात होता है कि विभिन्न धर्माचार्यो और दार्शनिक आचार्यो ने अपने-अपने विचार से राज-धर्म मूलक दण्ड के पर्याय कहे थे। और यही राजशास्त्र के लिए उनकी देन थी। दण्ड की प्रशसा मे वे सब एकमत थे। जैसे मन्वन्तर विद्या के अनुयायी आदिराज की सज्ञा मनु को ही देते थे जिसका विवेचन मानव-धर्मशास्त्र में सुरक्षित है, उपनिषद्वादी आचार्य अक्षर ब्रह्म को दड कहते थे। वैदिक मतानुयायी 'देव' को दण्ड मानते थे। अग्नि के उपासक आचार्य जैसे अग्नि को अग्रजतपस् कहते थे, वैसे ही दण्ड को भी अग्रजतत्त्व मानते थे, जो सृष्टि में सबसे पहले जन्म लेता है। धर्मानुयायी दण्ड को धर्मपाल कहते थे। माहेश्वर लोग दण्ड को रुद्र का पुत्र कहते थे। कुछ वैदिक लोग दण्ड को ज्येष्ठ ब्रह्म की सज्ञा देते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार दण्ड की सज्ञा व्यवहार थी। युद्धशास्त्रियो के मत में दण्ड तीक्ष्णवर्मा या तेज अभेद्य कवच पहनने वाला रक्षक था। सेनापतियो का मत था कि दण्ड ने ही सर्वप्रथम तलवार का रूप धारण किया। युद्ध-प्रेमी लोग कहते थे कि विशसन या मारकाट ही दण्ड है। श्री-लक्ष्मी के उपासक लोग दण्ड को श्री देवी का पुत्र ही मानते थे। मंत्रिपरिषद के सदस्य और राजसचिव दण्ड को दुराधर कहते थे, अर्थात् सब कुछ धारण किया जा सकता है, किन्तु दण्ड का धारण दुष्कर है। राजनीति के पडित दण्ड को ही शास्ता या राजा मानते थे। सनातन परम्परा मे विश्वास रखने वालो का मत था कि दण्ड ही सनातन, नित्य और शाश्वत है। भगवान् को सत्यात्मा मानने वाले दण्ड को ही सत्य का रूप कहते थे। इस प्रकार दण्ड के महत्त्व के रूप में सब तत्त्वचिंतक एकमत थे। राजशास्त्र की यह बडी विजय थी कि सबने दण्ड को गौरव दिया। दण्ड राष्ट्र का प्रजागर या जागरण है। जब सब लोग सो जाते है, तो दण्ड जागता रहता है।

भागवत आचार्यो ने दण्ड के लिए कुछ और भी नाम दिए थे, जैसे विष्णु, यज्ञ, नारायण, महापुरुष आदि। भागवतो की यह युक्ति थी कि जिस वस्तु की वे अत्यधिक प्रशंसा करना चाहते थे, उसे भगवान् विष्णु का रूप कहते थे। जैसे गुप्त युग मे ही समुद्र की बहुत महिमा बढी तब नारायण महार्णव, अर्थात् समुद्र नारायण का स्वरूप है, यह सूत्र बनाया गया (मत्स्यपुराण)। ऐसे ही दण्ड को भी नारायण प्रभु कहा गया। ब्रह्मा की पुत्री लक्ष्मी और सरस्वती की भाँति दण्डनीति भी जगत की माता है। दण्ड के अनेक शरीर है।

ऊपर दण्ड की जो बहुरूपता कही गई है, वह क्या है? दूसरा जैसा स्वाभाविक उत्तर यहाँ दिया गया है, वैसा सस्कृत साहित्य मे अन्यत्र कही नही है, "अर्थ और अनर्थ, सुख और दु ख, धर्म और अधर्म, बल और अबल, दुर्भाग्य और सौभाग्य, पुण्य और पाप, गुण और अवगुण, काम और अकाम, ऋतुमास, रात्रि, दिन, क्षण आदि काल भेद, प्रसन्नता और विषाद, हर्ष और क्रोध, दम और शम, दैव और पुरुषार्थ, मोक्ष और बधन, भय और अभय, हिंसा और अहिंसा, तप और यज्ञ, सयम, विष और अमृत, वस्तुओ का आदि, अन्त और मध्य, कृत्यो का विस्तार, मद, प्रमाद, दर्प, दम्भ और धैर्य, नीति और अनीति, अशक्ति और शक्ति, मान और स्तम्भ, व्यय और सग्रह, विनय और दान, काल और अकाल (सुभिक्ष और दुर्भिक्ष), अनृत और सत्य, ज्ञान और अज्ञान, श्रद्धा और अश्रद्धा, क्लीवता और कर्मण्यता, लाभ और हानि, जय और अजय, तीक्ष्णता और मृदुता, मृत्यु, आगम और अनागम, सम्पन्नता और विपन्नता, कार्य और अकार्य, असूया और अनसूया, धर्म और अधर्म, लज्जा और निर्लज्जता, तेज, कर्म, पाडित्य, वाक्शक्ति, तत्त्वज्ञान, इस प्रकार दण्ड के लोक मे बहुत से रूप है (एवं दण्डस्य कौरव्य लोकेऽस्मिन् बहुरूपता। १२१।२२)। दण्ड के उचित प्रयोग से धर्म और अनुचित प्रयाग से अधर्म आदि होते है। दण्ड का सम्यक् प्रयोग बल और उसका ह्रास निर्बलता है। इस प्रकार जीवन के अनेक क्षेत्रों मे दण्ड

के आधार की व्याख्या की जा सकती है। यदि दण्ड न हो तो लोग एक दूसरे को मथ डालें। दण्ड के डर से ही वे एक दूसरे को मारते नही। दण्ड से रक्षित प्रजाएँ राजा को भी बढाती हैं। अतः दण्ड द्वारा प्रजा-पालन आवश्यक है।" दण्ड के विषय मे और भी तात्त्विक विवेचन किया गया है और अन्त में कहा गया है कि स्वधर्म मे स्थित राजा के लिए कोई भी दण्ड से ऊपर नही है। वेदो मे, यज्ञो में, व्यवहार में, राजा मे, सर्वत्र दण्ड का मूर्त रूप है। उन्हे देखकर दण्ड के प्रति आस्था उत्पन्न होती है। (अ० १२१)

दण्ड की उत्पत्ति कैसे हुई ? इसका उत्तर एक कहानी के रूप में दिया गया है। अंगदेश का राजा वसुहोम सौवर्ण पर्वत मेरु (मध्यएशिया का पामीर पठार) की मुजपृष्ठ या मुंजवान चोटी पर तप करने गया (आज भी यह स्थान वक्षु नदी के बाएं किनारे पर है)। वही मान्धाता भी आ गये। कुशल आदि के अनन्तर मान्धाता ने वसुहोम से कहा, "हे राजन् ! तुम बृहस्पति और शुक्राचार्य के राजशास्त्रो को जानते हो। मै जानना चाहता हूँ कि दण्ड की उत्पत्ति कहाँ से हुई ? कैसे दण्ड पूर्वकाल मे जागता था ? इसे सबके ऊपर क्यो कहा गया ? कैसे इस समय दण्ड क्षत्रियो मे स्थित है ?" वसुहोम ने उत्तर दिया, "हे राजन् ? दण्ड प्रजाओ का संग्राहक है। हमने सुना है कि सृष्टि के आरम्भ मे ब्रह्मा ने यज्ञ करने के लिए अपने समान एक ऋत्विज को जन्म दिया। वह गर्भ एक सहस्र वर्ष तक ब्रह्मा के भीतर रहकर उनकी छींक से बाहर आया, अर्थात् छीक के साथ जैसे प्राण की वेगवती क्रिया होती है, उसी प्रकार उस गर्भ ने जन्म लिया। वही ब्रह्मा के यज्ञ का ऋत्विज बना। उसका स्वरूप दण्ड था, पर वह शीघ्र ही अन्तर्धान हो गया। उसके छिप जाने से प्रजाओ में कार्य-अकार्य, भोज्य-अभोज्य, पेय-अपेय का ज्ञान न रहा और वे लोग एक दूसरे की हिंसा करने लगे। लोगों को पराये और अपने में भेद न रहा। कुत्ते की भाँति मांस के लिए छीन-झपट करते हुए बली निर्बल को सताने लगे। तब ब्रह्मा ने महादेव से कहा, "आप ऐसी कृपा कीजिये जिससे प्रजाओं में संकर न हो।" तब

त्रिशूलधारी जटाधर रुद्र ने बहुत समय तक ध्यान करके अपने आप को दण्ड के रूप मे रचा। उसके बाद उससे दण्डनीति-स्वरूप देवी सरस्वती को जन्म दिया। वही दण्डनीति है। तब उस दण्डनीति के रूपो से शिव ने एक-एक राजा को बताया। इन्द्र को देवों का राजा बनाया और वैवस्वत यमको पितरो का अधिपति बनाया गया। धन का और राक्षसो का राजा कुबेर को बनाया। पर्वतो का राजा मेरु को बनाया। समुद्र को नदियो का राजा बनाया। वरुण को जलो का स्वामी, मृत्यु को प्राण का स्वामी और अग्निको तेजो का स्वामी बनाया। रुद्रो का स्वामी ईशान को, वसिष्ठ को विप्रो का, जातवेदस अग्निको वसुओ का, तेजो का सूर्य को, नक्षत्रों का चन्द्रमा को, लताओ का अंशुमान सोम को, भूतो का द्वादश भुजाओं वाले स्वामी स्कन्द को, और काल को सर्व-संहार का अधिपति नियुक्त किया। सब शरीरो का अधिपति राजराज कुबेर को बनाया। सब रुद्रो का स्वामी शूलपाणि शंकर को बनाया। ब्रह्मा ने दण्ड स्वरूप अपने उस पुत्र को सबका प्रजापति नियुक्त किया। यज्ञ के सकुशल समाप्त होने पर महादेव शिव ने उस दण्ड को विष्णु को समर्पित किया। विष्णु ने उसे अंगिरा को, अंगिरा ने इन्द्र और मरीचिको। मरीचि ने भृगुको, और भृगु ने उसे ऋषियों को सौप दिया। तब ऋषियो ने उस दण्ड रूप धर्म को लोकपालो को दिया। उसे ही श्राद्धदेव मनु ने अपने पुत्रो को धर्म की रक्षा के लिए दिया। दण्ड का प्रयोग विभिन्न रूपो के अनुसार करना चाहिए। मनमाने ढग से नही। कडवी बातो का निग्रह, यह दण्ड का रूप है। स्वर्ण का आदान तो उसकी बाहरी क्रिया है। शरीर की विकलता या बध अल्प कारण से अनुचित है। शरीर-पीडा, देह-त्याग, देश निकाला ये सब दण्ड के रूप है। किन्तु इनका प्रयोग न्याय बुद्धि से होना चाहिए।" इसके अनतर शक्ति के संचार की एक लम्बी शृंखला की कल्पना करते हुए अन्त में कहा गया है कि दण्ड ही प्रजाओं मे जागता है (दण्डो जागर्ति तासु च)। इस प्रकार आदि, मध्य और अन्त में दण्ड ही मुख्य है। धर्मविद् राजा को यथान्याय दंड का विधान करना चाहिए। दण्ड सब लोकों का नियन्ता है।

युधिष्ठिर ने 'धर्मार्थकाम' इस त्रिवर्ग के मूल के विषय में प्रश्न किया। उत्तर मे कामंदक ऋषि के मत का उपन्यास किया गया है तथा उसकी पुनः व्याख्या की गई है। ज्ञात होता है कि यह कामदक आचार्य की कही गई राजनीति थी। (अ० १२३)

अध्याय १२५ मे प्रह्लाद के मुख से राजा के लिए आवश्यक शील-धर्म का उपदेश कराया गया है। प्रह्लाद असुरो का राजा था। वह शील का अनुयायी था। उसके सामने एक महाकाय पुरुष प्रकट हुआ। पूछने पर उसने अपने-आप को धर्म या शील कहा। बात यह थी कि भागवत लोग बौद्धो को माया-मोह शास्ता के अनुयायी असुर कहते थे, जिनमें शीलधर्म का अत्यधिक प्रचार था। इस प्रकार की कथा विष्णु पुराण और लिंग पुराण में भी आई है। यहाँ भी किंचित् परिवर्तन से उसे ले लिया गया है। वामन पुराण के अनुसार ये असुर मागध मुनियो के शिष्य थे। उनके उपदेश के अनुसार धर्म का पालन करने से इनकी प्रजाओ को वृद्धि हुई। उस विशाल-काय पुरुष ने कहा, "हे प्रह्लाद, मुझे धर्म जानो। जहाँ शील है वहीं मै रहता हू"।[1]

तब प्रह्लाद के शरीर से एक महान् तेज प्रकट हुआ। पूछने पर उसने बताया कि मैं सत्य हूं और शील के पास जाना चाहता हूं। इस प्रकार सत्य और शील पर बल देने वाले बौद्ध धर्म की ओर संकेत है। लेखक ने राजधर्म के अंत मे बुद्ध के उपदेश का भी उल्लेख करना उचित समझा।[2]

"हे प्रह्लाद मैं वृत्त या आचार हूं। जहाँ धर्म होता है वहीं मेरा भी स्थान है।" इस प्रकार वृत्त या धर्म के विषय मे बौद्ध और ब्राह्मण दृष्टि-कोण का समन्वय किया गया है। शील, धर्म, सत्य, वृत्त, बल—ये सब शील

---

१ धर्मं प्रह्लाद मां विद्धि यत्रासौ द्विजसत्तम ।
यत्र यास्यामि दैत्येन्द्र यतः शीलं ततो ह्यहम् ॥ (१२४।२९)

२. ततोऽपरो महाराज प्रज्वलन्निव तेजसा ।
शरीरान्निःसृतस्तस्य प्रह्लादस्य महात्मनः ॥ (१२४।५०)

से उत्पन्न होते है। शील की प्राप्ति का संक्षिप्त उपाय इस प्रकार बताया गया है। सब भूतो मे मनसा, वाचा, कर्मणा अद्रोह रखना, अनुग्रह और दान यह शील है। जिससे औरो का हित न हो और जिससे अपने आपको लज्जा आवे, वैसा कर्म न करना चाहिए। ऐसा कर्म करना चाहिए, जिससे लोगो की सभा मे प्रशंसा हो। संक्षेप मे यही शीलका लक्षण है। यद्यपि शील-विहीन राजा भी कभी श्री-सम्पन्न हो सकता है, पर श्री अधिक दिन उसके पास टिक नही सकती। यह जानकर शील का पालन करना चाहिए। युधिष्ठिर ने आशा और उत्साह के संबंध का प्रश्न किया, "भविष्य के विपय मे आशा ही राजा और प्रजा की समृद्धि का कारण है। आशा ही समुत्थान का लक्षण है। सब पुरुषो के हृदय मे महती आशा उत्पन्न होती है। यदि उसका विघात हो, तो दु.ख और मृत्यु का फल मिलता है। आशा को पर्वत और आकाश से भी ऊंचा कहना चाहिए। यदि आशा दुर्लभ हो जाय, तो उससे अधिक दुर्लभ और क्या होगा ?" (अ० १२५)

इसके समर्थन मे एक आख्यान कहा गया है, जिमे वदरीनाथ मे रहने वाले एक अत्यन्तकृश तपस्वी ने सुनाया था। इसमे निराशा दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। किसी प्रकार की आशा का होना यही मानुपिक कृशता का लक्षण है। जिसे किसी प्रकार की आशा नही, वह सव प्रकार से सुखी है। यह सिद्धान्त गीता मे भी आया है—निराशीर्यत चित्तात्मा। किन्तु उसकी व्याख्या के लिए जो कहानी गढी गई है वह वहुत भोंडी है। (अ० १२६)

अध्याय १२७ मे भी ऐसा ही निरर्थक पुछल्ला है। उसका राजधर्म या दण्ड से कोई सम्वन्ध नही। माता-पिता की सेवा कैसे करनी चाहिए, यही वात पारियात्र पर्वत पर रहने वाले ऋषि गौतम और यमराज के सवाद के रूप मे कही गई है। (अ० १२७)

इस महाप्रकरण के अन्त मे राज्यके लिए कोश के महत्त्वका प्रतिपादन है। यदि राजा पर भीतर और बाहर से सव प्रकार की दुरवस्था आ जाय, तो क्या करना चाहिए ? इसके उत्तर मे कहा गया है कि कोश के क्षय से

ही राजा के राज्य का क्षय होता है। राजा को चाहिए कि जैसे निर्जल स्थान में कुआ खोदकर जल प्राप्त करते है वैसे ही धन प्राप्त करे।[1]

कोश ही राजधर्म का पहला नाम है। वृत्ति धर्म से कही अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिसके यहाँ वृत्ति के द्वारा धन का आगम नही उसके यहाँ आपद्धर्म आ जाता है। जिस प्रकार धर्म की ग्लानि न हो और शत्रु के वश में न पडे, वही कर्तव्य है। अपने-आपको विपादयुक्त नही बनाना चाहिए। सब उपायो से अपनी आत्मा को प्रफुल्लित बनाना चाहिए। क्षत्रिय के लिए अपने बाहुवीर्य से उद्यम करना ही जीवन है, ऐसा सुना जाता है। क्षत्रिय के लिए भैक्षचर्या का विधान नही है। उसे तो कोश का बल ही चाहिए। वही क्षत्रिय है, जो प्रजा की रक्षा करे। राजा को आपत्ति के समय राष्ट्र की और राष्ट्र को राजा की रक्षा करनी चाहिए, यही सनातन धर्म है। जैसे राजा आपत्ति के समय राष्ट्र की अपने साधनो से रक्षा करता है, वैसे ही राष्ट्र को भी आपत्तिग्रस्त राजा की रक्षा करनी चाहिए। कोश, दण्ड, बल, मित्र और जो अन्य सचित हो, उसे राजा राष्ट्र के क्षुधा-पीडित होने पर कभी न छिपावे। धर्मविदोका कहना है कि राजा प्रजाओ को खेती के लिए बीज और खाने के लिए अन्न वितरित करे। इस विषय मे महामायावी संवर का मत है कि उस राजा को धिक्कार है, जिसका राष्ट्र दुःख पाता है। शिवि ने भी कहा है कि राजा का मूल कोश और बल है और बल कोश के अधीन है। वही सब राजधर्मो का मूल है, और प्रजाओं का मूल धर्म है।[2]

धनहीन व्यक्ति दुर्बल होता है, धन या कोश ही सच्चा बल है। कोश से ही धर्म और काम की सिद्धि होती है और यह लोक तथा परलोक दोनो

---

१. राज्ञः कोशक्षयादेव जायते बलसंक्षयः ॥११
कोशं संजनयेद्राजा निर्जलेभ्यो यथा जलम्। (१२८।११-१२)

२. राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः॥ (१२८।३५)

सुलभ होते है। अतः राजा के लिए कोश-संचय सबसे अधिक प्रशंसनीय है। कोश-सग्रह के लिए यदि कुछ अत्याचार और उत्पीड़न भी करना पडे तो वह भी क्षम्य है, यह कोशवादी आचार्यों का मत था।

: ८२ :

आपद्धर्म

(अ० १२९-१६७)

राजधर्म का ही अवान्तर भाग आपद् धर्म प्रकरण है। यहाँ आपद् शव्द पारिभाषिक है। जब राजा शत्रु से घिर कर या हारकर अपना राज्य खो बैठता है, अथवा अपनी प्रजा द्वारा ही पद्च्युत किया जा कर बाहर घूमने लगता है, तो उसके उस संकट को आपद् कहते थे। यह ठीक भी था। राजा के लिए इससे बडी विपत्ति नही हो सकती कि किसी कारणवश उसे अपने हाथ से राज्य धोना पड़े। अतः प्राचीन नीतिविशारदो ने इस स्थिति पर भी विचार किया कि उस स्थिति मे राजाको अपने उद्धार के लिए क्या करना चाहिए। इस प्रसंग का सार यह है कि आपद्ग्रस्त राजा को पुन. कोश और सेना का संग्रह करना चाहिए और उनकी सहायता से यथासंभव पुनः अपना राज्य प्राप्त करना चाहिए। इसी को 'राजधर्मेषु आपद्धर्मेषु आपत्प्रतीकारः' कहा गया है। आपत्ति से छूटने के लिए यदि कोश और सैनिक बल से युद्ध भी करना पडे, तो वह भी योग्य है।

युधिष्ठिर का प्रश्न आपत्ति का जो चित्र खीचता है, उससे राज्य की असहायता और निर्बलता की पराकाष्ठा सूचित होती है। युधिष्ठिर ने ये बारह बातें कही—

१. राजा क्षीण हो जाय,

२. राजा दीर्घसूत्री हो जाय या समय पर काम न करने वाला हो जाय,

३ अपने बंधु-बाधवो के प्रति हद दर्जे की अनुकम्पा या कृपा करने के कारण राजशक्ति की हानि कर ले,

४ उसके पुर और राष्ट्र दोनो विरक्त हो जायं,

५ उसका द्रव्य और सचय क्षीण हो जाय,

६ उसके मुख्य अधिकारी उसका संदेह करने लगें, वह उनका विश्वास खो दे,

७ उसका मंत्र फूट जाय,

८ उसके मित्र उसकी संभावना या आदर न करने लगें,

९. उसके अमात्य फूट जाय,

१० वह शत्रु के चक्र में फँस जाय,

११ वलवान् शत्रु के द्वारा वह दुर्बल कर दिया जाय,

१२. एक या अधिक कारणो से उसके चित्त में आपत्ति का भाव आ जाय ।

आपद् ग्रस्त राजा के उद्धार और स्वराज्य स्थापन का सिद्धान्त वैदिक राजशास्त्र मे भी पाया जाता है। अथर्ववेद के दूसरे काण्ड के तीसरे सूक्त मे इसका बहुत अच्छा वर्णन है। उन छह मंत्रो का शीर्पक है—"स्वराज्ये राज्ञ• पुनः स्थापनम्" । यहाँ जिसे परचक्र अर्थात् पराये चक्र मे फँसना कहा गया है, उसे ही अथर्ववेद में "अन्य क्षेत्रे अप रुद्ध चरन्तम्" कहा गया है। राजा शत्रुके देश मे फँस जाय, शत्रु के इलाके मे उसे चोरी-चोरी या अपरुद्ध अवस्था मे घूमना पडे, यह राज्य का सबसे बडा सकट है। इस विपय में अथर्ववेद के छह मत्रो का भाव वहुत उत्साहवर्धक है—

१ कभी वह राजा यहाँ उच्चस्वर से सिंहनाद करता था। पुन वह अपनी निपुणता से वैसे ही कार्य करे। हे अग्नि । उसके लिए पुन विशाल पृथिवी और आकाश का निर्माण करो। हे मरुत्गण ! आप जो सब प्रकार के पोपो के स्वामी है, उसे पुन यहाँ ले आइये, जिसने अनेक हव्य पदार्थों की आहुतिया दी थी।

२. वह अपने राष्ट्र से कितनी भी दूर हो, हे अग्नि । तुम्हारे रक्त

वर्ण या लाल रंग के घोडे उस पदच्युत इन्द्र या विप्र को पुनः यहाँ ले आवें, क्योकि अब देवो ने सौत्रामणि यज्ञ द्वारा उसके स्वभाव की मृदुता को हटाकर उमे पुनः क्षात्रधर्म युक्त बना दिया है (अधिक सोमपान से उत्पन्न तन्द्रा को सौत्रामणि यज्ञ मे किये हुए दुग्धपान से दूर किया जाता था)।

३. राजा वरुण तुम्हे जलाशयो से पुकार कर यहाँ लावें। सोम जहाँ पर्वतो पर उगता है, वहाँ से वह तुम्हारी पुकार करे। इन्द्र इन समस्त प्रजाओ मे तुम्हे ढूँढकर पुकारे। हे राजा ! तुम जहाँ भी हो वहाँ से बाज की तरह झपट कर अपनी प्रजा मे आओ। (इसकी व्यंजना यह है कि राष्ट्र की नदियाँ, पर्वत और प्रजाएँ सब अपरुद्ध राजा को पुनः आने के लिए पुकारती है)।

४ जो शत्रु के देश में देश निकाले का लाचार जीवन बिता रहा है, उसे पुनः यहाँ आना ही चाहिए। बाज की शक्ति उसे यहाँ ले आवे। दोनों अश्विनीकुमार उसके आने के मार्ग को सुगम कर दें, जिससे वह आकर अपने बंधु-बाधवो से मिले।

५. हे राजन् ! तुम्हारे शत्रु ही तुम्हे फिर बुला रहे है। तुम्हारे मित्रो ने तो तुम्हे पुन. चुन ही लिया है। इद्र, अग्नि और सब देवो ने अभी तक तुम्हारे राजमहल को प्रजाओ के बीच मे सकुशल रक्खा है।

६ हमारे इस आवाहन का जो विरोध करता हो, चाहे वह सजातीय हो या विजातीय, हे इन्द्र ! उसे यहाँ से दूर हटाओ। और उस राजा को पुन यहाँ लाओ (कृत्वा थेममिहाव गमय। अथर्ववेद ३।३।६)।

इन मंत्रो से ज्ञात होता है कि स्वदेश के कुछ व्यक्तियो ने ही पदच्युत राजा का विरोध किया था। उसका कोश-बल घट गया था। उसकी प्रजा-रजन की नीति भी कुछ क्षीण हो गई थी। उसके मित्र-सजातीय उससे कुछ उदासीन हो गये थे। अत उसे राज्यच्युत होकर शत्रु के देश में जाना पडा। किन्तु ज्ञात होता है कि कुछ समय बाद उसके राष्ट्र मे परिस्थितियाँ अनुकूल हो गईं। प्रजाएँ पुन. उसे चाहने लगी। उसका

कोश भी ठीक हो गया। उसके विरोधी शत्रु भी हट गये और जो उसके पक्षवाले मित्र थे, वे बलवान् हो गये। पुरवासी और जनपदवासी प्रजाएँ उसका आवाहन करने लगी तथा पुन: उसे लाने में कोई विवाद न रहा। इस प्रकार की अनुकूल परिस्थिति में राजा की आपत्ति समाप्त हो जाती थी और वह पुन: अपने देश में लौट आता था।

इस पृष्ठभूमि मे आपद् धर्म प्रकरण को वढाया जाय तो यह विषय नितान्त स्पष्ट हो जाता है। राजा की इस आपत्ति का कारण प्राय यह होता है कि कोई बाहर का विजयार्थी शत्रु उस पर हमला कर देता है। इसका सबसे अच्छा इलाज यह है कि उस बाहरी विजिगीषु के साथ, विशेषत उस हालत में जब वह धर्म और अर्थ में कुशल एवं ईमानदार हो, शीघ्र संधि कर ले और अपनी भूमि का जो भाग उसके कब्जे मे चला गया है, उसे क्रमश छुडा ले। यदि विजयार्थी शत्रु अधार्मिक, पापी और बलवान् हो तो किसी प्रकार अपने आप को निग्रहित कर उसके साथ संधिका प्रस्ताव न रक्खे। इसके लिए चाहे अपनी राजधानी को भी छोड़ना पडे, या और कोई उपाय काम में लाना पडे, तो भी वैसा करना चाहिए। जो रह जाय, उसी के सहारे प्राणो को बचाते हुए पुनः द्रव्य का उपार्जन करना चाहिए। (तद्भावाभावे द्रव्याणि जीवन्पुनरुपार्जयेत। १३० । ६)। जिन आपत्तियो को केवल त्याग से पार किया जा सके, उनके लिए अधिक-से-अधिक त्याग भी करना ठीक है। हर हालत में राजा को चाहिए कि अपने-आप को शत्रु के हाथ में न पडने दे।

युधिष्ठिर ने प्रश्न किया कि यदि भीतर से अपना राष्ट्र कुपित हो जाय और बाहरी शत्रु का दवाव हो, तो ऐसे दो दवाओ मे पडे राजा को क्या करना चाहिए? इसका भीष्म ने स्पष्ट उत्तर दिया कि इस प्रकार आपत्ति में पडे राजा को या तो शीघ्र संधि करनी चाहिए या शीघ्र पराक्रम दिखाकर शत्रु को मार भगाना चाहिए। यदि अपनी सेना अनुरक्त, पुष्ट और हृष्ट हो तो वह कितनी भी थोडी रह जाय, पुन: अपनी धरती

को जीता जा सकता है। ऐसे राजा को यह जानकर अपनी हिम्मत बढानी चाहिए कि युद्ध मे मरने पर स्वर्ग मिलेगा और जीतने पर पृथिवी का राज्य।

यहाँ यह प्रश्न भी उठाया गया कि जब धर्म का परम ह्रास हो जाय, लोक मे दस्युओ द्वारा मर्यादा का उल्लंघन होने लगे, तथा पृथिवी की भोजनादि वस्तुओ पर दस्युओ का अधिकार हो जाय, तो ब्राह्मण को अपने जीने के लिए क्या करना चाहिए ? इसका यही उत्तर है कि ब्राह्मण को ऐसे आपत्ति काल मे विज्ञान या बुद्धिबल का सहारा लेना चाहिए। विश्व का नियम है कि यहाँ साधु का हा साथ लोग देते है, असाधु का नही। इसी विश्वास से चलना चाहिए। ऐसे समय क्रोध नही करना चाहिए, किन्तु यदि आवश्यकता हो तो दूसरे के धन को अपना समझ कर लिया भी जा सकता है। जो अपने विज्ञानबल (बुद्धि-विद्या) से निन्दितों के साथ भी उचित व्यवहार करता है, उस सदाचारी विज्ञानवान् धार ब्राह्मण से कोई क्या कहेगा ? जो बलि की वृत्ति का पालन करते है, वे अपने तेज से युक्त रहते है। ऋत्विक ब्राह्मण, पुरोहित, आचार्य आदि को सताना नही चाहिए। यही लोक की रीति है। यही सनातन चक्षु या दृष्टिकोण और धर्म है। गाँवों में रहने वाले बहुत से लोग कठोर वचन कहते है। राजा को चाहिए कि उन पर ध्यान देकर किसी को सतावे नही। कुवचन न कहे, निन्दा न करे और न उसे सुने, या कान बदकर ले, अथवा अन्यत्र चला जाय। सज्जनों का स्वभाव है कि वे केवल गुणो का बखान करते है। आचार ही धर्म का बडा लक्षण है। (अ० १३०)

राजा के कर्त्तव्य की पुन. चर्चा करते हुए कहा गया कि अपने या परराष्ट्र से कोश का संग्रह करना चाहिए। क्योंकि कोश-बल से ही राज्य टिकता है। पहले कोश को उत्पन्न करे, पुनः उसका संग्रह करे, तीसरे उसकी वृद्धि करे और चौथे उसका समुचित व्यय करे। बलहीन राजा के पास कोश कहाँ और बिना कोश के बल कहाँ ? बलहीन राजा के पास राज्य कहाँ, और विना राज्यवाले के पास श्री कहाँ ? ऊँची वृत्ति वाले

राजा के लिए श्री (कोश) की हानि मरण-तुल्य है। अत राजा कोश, वल और मित्र-समुदाय की रक्षा करे। कोशहीन राज्य का लोग अनादर करते है श्री राजा के पापो को भी छिपा देती है। राजा को सदा उद्यमी होना चाहिए। मन में ग्लानि नही करनी चाहिए। उद्यम ही पुरुपार्थ है (उद्यमो ह्येव पौरुपम्। १३१। ९)। राजा कभी मर्यादा भग करने वाले दस्युओ का साथ न दे। जन-चित्त को प्रसन्न करने वाली देव-मर्यादा की स्थापना करे। दस्युओ के वश मे आये हुए भूभाग को छुडावे और उनसे किसी तरह का मेल न रक्खे।

पुन कहा गया है कि क्षत्रिय का धर्म प्रत्यक्ष फल वाला है। इसके साथ परोक्ष फल को नही मिलाना चाहिए। वलवान् होने की इच्छा करे। सव कुछ वलवान् के वश मे रहता है। श्री, सेना और अमात्य सव वलवान् ही प्राप्त करता है। जो निर्धन है, वही पतित है। जो हीन है, वही उच्छिष्ट (जूठन) है। ब्रह्म को चाहिए कि क्षत्र का आश्रय ले। पापहीन आचार शीघ्र अनेक लोगो से सम्मान प्राप्त कर लेता है। (अ० १३१–३२)

इस प्रकरण मे निपाद आदि दस्यु जातियो के लिए भी एक आचार वताया है जिसका पालन करके दस्यु भी अपना जीवन चला सकते है। धर्मशास्त्र का यह भी एक दृष्टिकोण था। जव दस्यु (पुलिंद, शवर) जातियो को अरण्य मे रहने का अधिकार था, तो उनके लिए भी एक मान्य जीवन-विधि का उपदेश दिया गया। निपाद, पुलिंद, शवर आदि जातियो का मूलोच्छेद प्राचीन राजधर्म को अभीष्ट न था। कापव्य नामक एक दस्यु का चरित देते हुए कहा गया है कि वह जंगल में रहता था। अपने वूढे माँ-वाप की सेवा करता था। वह अमोघ वाण चलाता था। कन्द-मूल-फल और जगली अन्न खाकर निर्वाह करता था। उसने सैकडो सैनिको को अकेले जीत रक्खा था। वह हथियार चलाने में दृढ था। जगल में रहने वाले परिव्राजक और ब्राह्मणो के लिए मृग मारकर उनके पास पहुँचाता था। उसे दस्यु समझकर जो उसका भोजन न लेते थे,

वह फिर भी उनके घरों मे जाकर उनकी सेवा करता था। एक बार उसके इस चरित्र को देखकर सैंकडों ग्रामीण दस्युओं ने कहा कि आप हमारे सेनापति बन जाइये। उसने उत्तर दिया, "तुम स्त्रियों का बध करना छोड दो। बालक या तपस्वी को न मारो। जो युद्ध करना न चाहता हो, उसका बध न करो। स्त्री का किसी अवस्था में बध न करो। गाय और ब्राह्मण की सदा रक्षा करो और उनकी रक्षा के लिए युद्ध करो। खडी फसल मत काटो और फल का नाश मत करो। जहाँ देवता, पितर और अतिथियो का पूजन होता हो, वहाँ विघ्न न करो। दण्ड का निर्माण सृष्टि की रक्षा के लिए हुआ है, बध के लिए नही। जो दस्यु होकर भी धर्मशास्त्र का पालन करते है, वे सिद्धि प्राप्त करते है।" कापव्य के कहने से उन दस्युओ ने वैसा ही किया। उससे कापव्य और उनको सिद्धि प्राप्त हुई। इस कापव्य-चरित के द्वारा किसी भागवत ने यह कल्पना की कि दस्युओ मे भी भागवतो जैसा नीतिशास्त्र संभव है। अनुमान होता है कि गुप्त युग के किसी आटविक राजा के जीवन का वर्णन यहाँ किया गया है। (अ० १३३)

अगले अध्याय मे पुनः कोशसंग्रह पर बल दिया गया है। धन यज्ञ के लिए या राजा के कोश के लिए ही बनाया गया है। वह राजस्व है। उस पर किसी का अधिकार नही। जो देवता, पितर और मनुष्यो को नही दिया जाता, उस धन को धार्मिक राजा को ले लेने का अधिकार है।

राजा को अपनी बुद्धि से कार्य और अकार्य का निश्चय कैसे करना चाहिए, इसके लिए तीन मच्छों का दृष्टांत दिया गया है। उनमें एक प्राप्त-कालज्ञ अर्थात् समय को पहचान कर काम करने वाला था। दूसरा दीर्घ-दर्शी अर्थात् भविष्य मे होने वाली बात को भी सोचने वाला था। तीसरा दीर्घसूत्री था जो सदा करने योग्य काम को टालता रहता था। कभी मछुओ ने उस जलाशय को घेर कर उन मछलियो को पकड़ना चाहा। उस दीर्घदर्शी ने दोनो मित्रों से कहा, "सब जलचरों पर यह आपत्ति आई है। अतः जब तक जाने के रास्ते खुले हैं, इस सरोवर को छोड़ कर

अन्यत्र चलें। जो अनागत अनर्थ को उपायो से दूर कर देता है, उसे सशय में नही पडना पडता। इसलिए यदि आपको भी अच्छा लगे, तो भाग चलें।" दीर्घसूत्री ने कहा, "आपकी वात तो ठीक है किन्तु मेरी राय है कि पहले से ही हडवडी न करनी चाहिए। समय पडने पर जो करना होगा कर लेंगे। उससे कुछ हानि न होगी।" यह सुनकर दीर्घदर्शी वहाँ से हट कर दूसरे गहरे जलाशय में चला गया। तव मत्स्यजीवी लोगो ने आकर उस जलाशय को घेर लिया और मछलियो को पकड लिया। उनमे दीर्घसूत्री भी वध गया। वहुत-सी मछलियाँ वशी और डोरे मे फँसा ली गईं। उन्ही मे प्राप्तकालज्ञ भी था। जव वे उन मछलियो को ढोने लगे, तव प्राप्तकालज्ञ छिटककर जल मे चला गया। मन्दात्म, हीनवुद्धि, अचेतन दीर्घसूत्री मृत्युको प्राप्त हुआ। ऐसे ही जो राजा आये हुए समय को नही पहचानता वह शीघ्र आपत्ति में फँस जाता है। जो पहले से ही सावधान रहता है, वह दीर्घदर्शी मछली की तरह सकुशल वना रहता है। सोच-विचार कर कार्य करने वाले राजा को चाहिए कि देश और काल को देखकर कार्य का निश्चय करे और दीर्घसूत्रता छोड कर शीघ्रता से कार्य करे। (अ० १३५)

ज्ञात होता है कि राजनीति के वहुत से दृष्टान्तो मे तीन मछलियो का यह दृष्टान्त भी पूर्वकाल से चला आता था।

युधिष्ठिर ने पुन प्रश्न किया, "आपने तीन प्रकार की वुद्धि कही—अनागता वुद्धि, प्रत्युत्पन्न वुद्धि और दीर्घसूत्रा वुद्धि। इनमें कौन-सी श्रेष्ठ है, जिसका आश्रय लेकर शत्रु से घिर कर भी मोह न हो। वहुत-से शत्रुओ से घिरकर भी राजा क्या करे, यह भी मै जानना चाहता हूँ। सकट मे पडे राजा को डाकू और लुटेरे घेर कर उसका पराभव करना चाहते है। उस समय राजा को क्या करना चाहिए? कैसे राजा अकेला होकर वहु-सख्यक के सामने ठहर सकता है? कैसे वह मित्र के साथ और कैसे शत्रुओ के साथ बर्ताव करे? कैसे सधि करे और कैसे विग्रह करे? कैसे निर्वल होकर शत्रु और मध्यस्थ के साथ वर्ताव करे? उस हालत में राजा को

कोई सलाह देने वाला नही रह जाता ।"

भीष्म ने कहा, "आपत्ति मे मित्र भी द्वेष करने लगते है और जो अमित्र है, वे मित्रता साधने लगते है। इसलिए उसी समय देश और काल तथा कार्य और अकार्य का निश्चय करना चाहिए । मुख्य नीति यह है कि पंडितो और हितैषी मित्रो के साथ सधि करनी चाहिए। और, शत्रु के साथ भी सधि की ही नीति का पालन करना चाहिए। जो मूर्ख व्यक्ति शत्रु के साथ सधि-नीति से व्यवहार नही करता, वह न अर्थ पाता है और न फल। जो आपत्ति के समय अपने बैरी से भी मित्रता या सधि ठानता है, वह अर्थ और फल दोनो की साधना कर लेता है। इस विषय मे वट वृक्ष पर रहने वाले का दृष्टान्त है।"

किसी जगल में एक भारी बरगद का पेड था। उसकी जड में बिल बनाकर एक चूहा रहता था। पेड़ की शाखाओ पर एक बिडाल रहता था। वही एक व्याध पास मे रहता था, जो अपने जाल मे मृगो को फँसाता था। एक दिन बिडाल भी जाल मे फँस गया। यह देखकर वह चूहा खुश हुआ और निडर होकर वन मे मास की खोज में घूमने लगा। पर उसने उससे भी भयंकर अपना दूसरा शत्रु नेवला एक बिल मे सोते हुए देखा। वह नेवला चूहे की गंध पाकर फुर्ती से उठ बैठा। तब चूहे ने वृक्ष की शाख पर बैठे अपने दूसरे शत्रु वक्रतुंड उल्लू को देखा। अब उस चूहे को नीचे और ऊपर मृत्यु नाचती दिखाई दी। उसने सोचा, 'मुझे इस आपत्ति में बुद्धि से काम लेना चाहिए। मेरे जैसे बुद्धिमान् को मोह मे नही पडना चाहिए। जब तक सास है, तब तक जीवन का उपाय करूँगा। बुद्धि से युक्त, प्राज्ञ और नीतिशास्त्र में कुशल लोग आपत्ति मे पडकर भी संदेह मे नही पडते। अतः मेरे लिए इस समय बिडाल ही एक मात्र गति है। उसके फंदे काटकर उसे जाल से छुडा दूँ। यह भी विपत्ति मे पडा है और मै इसका बड़ा काम सिद्ध कर सकता हूँ। तीन से याचना करने की अपेक्षा अकेले विलाव से याचना करना अच्छा होगा। नीति विद्या का आश्रय ले कर इसका हित करूँ। यद्यपि मेरा यह घोर शत्रु है, पर संभव है कि

स्वय आपत्ति में पडा, मुझसे सधि कर ले। अब तो मेरा जीवन इसी वैरी विलाव के अधीन है।' तब संधि-विग्रह का भेद जानने वाले उस चूहे ने बिडाल से कहा,—"हे विडाल, क्या अभी तक तुममें सास है? यदि जीते हो, तो तुम्हारा मै कल्याण करना चाहता हूँ। तुम दु खी मत होओ। तुम पहले की तरह फिर जी जाओगे। मै तुम्हारा उद्धार करूँगा तथा तुम्हारे लिए प्राण न्योछावर कर दूँगा। मेरी समझ में एक ऐसा उत्तम उपाय है, जिससे तुम इस वन्धन से छूट जाओगे। इससे तुम्हारा और मेरा दोनो का भला होगा। नीचे नेवला और ऊपर उल्लू, ये दोनो हमारे शत्रु बैठे है। उनसे रक्षा होनी चाहिए। पडितो का कहना है कि दो व्यक्तियो के बीच मे साप्तपदीन मैत्री (सात वचन भर कर) होती है। वह मै आज तुम्हारे साथ करना चाहता हूँ। यदि तुम मेरी हिंसा न करो, तो तुम्हारे फदे मै काट दूँगा। तुम पेड पर हो, मै जड पर हूँ। हम दोनो इस पेड पर वहुत दिनो से रहते आये है। जिस पर कोई विश्वास न करे और जो किसी पर विश्वास न करे, ऐसे शकाशील चित्त वाले की कोई प्रशसा नही करना। अत आओ, आपस में प्रेमपूर्वक हमारा सच्चा मेल हो जाय। मै तुम्हारा जीवन चाहता हूँ, तुम मेरे जीवन की इच्छा करो। कोई काष्ठ के सहारे नदी पार हो जाता है और फिर वडी नाव मे बैठकर उस काठ को भी पार करा देता है। हम दोनो का यही आपसी मौका है। तुम मुझे तारो, मै तुम्हे तारूँ।" यह सुनकर विडाल ने शातिपूर्वक कहा, "हे सौम्य, तुम्हारा हित हो। तुम मेरे जीवन का हित चाहते हो। मै आपद्ग्रस्त हूँ, तुम मुझसे भी अधिक आपद्ग्रस्त हो। दो आपद्ग्रस्त व्यक्तियो की सधि खूब बैठती है। अतः जो उचित हो, वह करो। मेरी रक्षा होने पर तुम्हारी हिंसा न होगी। तुम मेरे कहने मे हो, तो मै तुम्हारी शरण में हूँ।" यह सुनकर चूहे ने कहा, "आपने उदार भाव से जो कहा, वह कोई विचित्र वात नही है। मुझे जो हितकारी मार्ग जान पडता है, उसे सुनिये। मुझे नेवले से डर लग रहा है। अत आपके पास आ जाता हूँ। आप मेरी रक्षा कीजियेगा, मुझे मारियेगा नही। उल्लू से भी मेरी रक्षा कीजिये।

तब मै आपके फदे काट दूँगा।" यह सुनकर विडाल ने चूहे का स्वागत किया और बोला, "तुममे और मुझमे एका हो गया है। तुम मेरे प्राण की भाँति मित्र हो, निडर मेरे पास आओ। तुम्हारी कृपा से मै जीवन प्राप्त करूँगा। तुम्हारा जो हित मै कर सकूँ, उसे सौ वर्ष तक पूरा करूँगा। अब हम दोनो मे संधि हो गई है। मै इस आपत्ति से छूट कर तुम्हारे लिए प्रीति का काम करूँगा।" यह सुनकर चूहा विश्वास के साथ बिडाल के पास चला गया और पिता-माता की तरह बिडाल पर विश्वास करके उसकी गोद मे सो गया। उस चूहे को इस हालत में देखकर नेवला और उल्लू निराश होकर चल गए। किन्तु उसने बिडाल के फंदो को धीरे-धीरे काटना शुरू किया। फंदो से दुःख पाते हुए बिडाल ने चूहे से जल्दी करने को कहा, "तुम जल्दी से मेरे फदे काट दो और फिर बाद मे आराम करना।" यह सुनकर चूहे ने कहा, "हे सौम्य, तुम चुप ही रहो। मै इस विषय मे कालज्ञ हूँ और काल को बीतने न दूँगा। अकाल मे किया हुआ काम फल नही देता। उसे भी जब काल में किया जाय, तभी वह फलवान् होता है। जब मै चाण्डाल को हाथ मे शस्त्र लेकर आते देखूँगा तब तुम्हारे फंदे काट दूँगा। उस समय फासो के कटने से तुम छूटकर वृक्ष के ऊपर चढ जाना। इससे तुम्हारा जीवन सुरक्षित हो जायगा। तब मै बिल में घुस जाऊँगा।" जीवितार्थी बिडाल ने चूहे की बात सुनकर कहा, "सज्जन इस प्रकार देर मे मित्रो का कार्य नही करते। मुझे छुडाने में शीघ्रता करो, जिससे दोनो का हित हो। या, तुम पहले वैर को याद करके देर कर रहे हो। देखो, इससे मेरी आयु का नाश हो जायगा। मैंने अज्ञान से जो गलती की हो, उसे क्षमा करो।" यह सुनकर बुद्धिमान् चूहे ने बिडाल से कहा, "मैंने आपका मतलब समझ लिया, पर आप भी मेरा स्वार्थ समझ लें। जो शत्रु से भयभीत होता है, उस मित्र की भी रक्षा करनी चाहिए, जैसे हाथी की साँप के फन से। बलवान् से सन्धि करके जो अपनी रक्षा नही करता, उससे उसका अनर्थ होता है, जैसे अपथ्य भोजन से। न कोई किसी का मित्र है, न कोई किसी का

आचार्यों ने काफी विचार किया।

राजा को चपलबुद्धि नही होना चाहिए और न कार्य करने मे ही चपल होना चाहिए। चपलता बड़ा दोष है। यह लोक अर्थार्थी है। कोई किसी का प्रिय नही। अर्थ, युक्ति या स्वार्थ के कारण ही सब सगे बन जाते है। राजा को चाहिए कि इन छोटी बातो को भी पहचाने। चूहे ने कहा, "तुम मेरे स्वाभाविक शत्रु हो। अब मेरा तुम्हारा समागम नही हो सकता। दो मा जाए भाइयो में या पति-पत्नी मे भी निष्कारण प्रीति नहीं होती। मेरे और तुम्हारे बीच मे इसके सिवाय प्रीति का कारण और क्या है कि तुम खाने वाले हो और मै तुम्हारा खाद्य हूँ। सन्धि और विग्रह की नीति मे उनके रूप क्षण-क्षण में बदलते रहते है। जब तक हम मे स्वार्थ था, तब तक मैत्री थी। वह तो उसी के साथ विदा हो गई। सन्धि-विग्रह के क्षेत्र मे जो आज ही मित्र है, वह आज ही शत्रु बन जाता है। और फिर उसी दिन पलट कर मित्र हो जाता है। स्वार्थो की ऐसी चपलता होती है। और, वे जल्दी-जल्दी बदल जाते है।

"तुम मेरे घोर शत्रु हो। केवल स्वार्थ की एकता से मित्र बन गये थे। अब वह बात नही रही। मै इस विषय के शास्त्रों का तत्त्व जानकर फिर तुम्हारे फन्दे मे कैसे फँस सकता हूँ ? मैं तुम्हारे पराक्रम से मुक्त हुआ और तुम मेरे पराक्रम से। एक दूसरे का वह अनुग्रह समाप्त हो गया। अब समागम नही हो सकता ? अब मुझे खा लेने के सिवाय तुम्हारा मुझसे और क्या काम बन सकता है ? मै अन्न हूँ, तुम खाने वाले हो। मै दुर्बल हूँ, तुम बलवान् हो। मेरे और तुम्हारे बीच में बल की विषमता है, इसलिए सन्धि नही हो सकती। मै तुम्हारी बुद्धि की तारीफ करूँगा। जो इतनी आसानी से अपने लिए भक्ष्य पा लेना चाहते हो। बन्धन से छूटने के बाद तुम्हे भूख लगी है, सो तुम शास्त्र की दुहाई देकर मुझे खा लेना चाहते हो। तुम वही से मेरी कुशल मनाओ।" (अ० १३७)

प्राचीन राजशास्त्र मे 'आत्मरक्षितकम्' नामक एक प्रकरण था।

: ८३ :

ज्ञान में अभिमान का दृष्टान्त

कर्म है। मै भी इस कृतघ्न से बदला लूँगी।" यह कहकर उसने अपने पंजों से राजपुत्र की आँखें फोड़ डाली, और तब राजा से कहा प्रतीकार कर देने पर भी शुभाशुभ कर्म मिटता नही है। पुत्र या पौत्र मे उसका फल अवश्य जाता है।

ब्रह्मदत्त ने कहा, "तुम्हारे साथ जैसा हमारे यहाँ व्यवहार हुआ, वैसा तुमने भी कर दिया, इसलिए विश्वास के साथ तुम यहाँ रहो।" पूजनी ने उत्तर दिया, "एक बार अपराध करने पर फिर वही रहना ठीक नही। कितनी भी सान्त्वना की जाय, वैर कभी शान्त नही होता। एक दूसरे के प्रति वैर करनेवालो मे सन्धि नही होती। पूर्वापकारीका मित्र अविश्वासी हो जाता है। पहले जहाँ आदर हो, सम्मान हो, बाद में अनादर हो जाय, वहाँ नही रहना चाहिए। मै तुम्हारे यहाँ बहुत दिनों तक सुख से रही, अब वैर उत्पन्न हो गया। अत मै जाती हूँ।"

यहाँ कहानी तो छोटी ही है, किन्तु इसके बाद करीब अस्सी श्लोकों मे चिडिया और राजा का सवाद दिया हुआ है, जिसमें अविश्वास और वैर-संबंधी राज-सिद्धान्त का विशद वर्णन है। ब्रह्मदत्त ने पूजनी को अपने यहाँ रखने के लिए कालवाद के तर्कों का आश्रय लिया, किन्तु पूजनी ने उसका खण्डन किया। उसने राजा को यह भी उपदेश दिया कि क्षत्रिय को चाहिए कि अपने अपकार और वैर का बदला ले। राजनीति का यही मुख्य मन्त्र है कि राजा अपने मन में अविश्वास का व्यवहार रखे।

यह कणिक भारद्वाज के राजशास्त्र से संबंधित सिद्धान्त था। कणिक भारद्वाज की उग्र राजनीति पढते हुए ऐसा जान पड़ता है मानो यूरोप की राजनीति मे विस्मार्क या गैरीवाल्दी के सिद्धान्त पढ रहे हों। कणिक भारद्वाज की राजनीति का आधार शोणित और शस्त्राघात था। उनके मत की विशद व्याख्या अध्याय १३८ की पुष्पिका मे गई है। उसकी संज्ञा 'कणिक षष्टि' भी है, जिससे ज्ञात होता है कि उसमे मूलतः ६० श्लोक थे। कणिक नामक आचार्य ने सौवीर देश के राजा शत्रुंतप को अपनी उग्र नीति का उपदेश दिया था। राजा को नित्य उद्यतदण्ड होना चाहिए, जिससे उसका

पीछे प्रकट हो। पर वह शत्रु के छिद्र की खोज में रहे और जहाँ छिद्र मिले, उस पर प्रहार करे। सदा दण्ड का प्रयोग करने से लोग डरते हैं। अतः सब भूतों का दण्ड से शासन करे। पण्डित लोग दण्ड को प्रधानता देते हैं। साम, दान, और दण्ड में दण्ड ही प्रधान है। राजधानी का मूल छिन्न हो जाने पर राज्य का उच्छेद हो जाता है, जैसे वृक्ष-मूल के कट जाने से सब शाखाएँ सूख जाती हैं। आपत्ति के समय बिना शंका के सुमन्त्र, सुन्दर पराक्रम, सुन्दर युद्ध और सुपलायन—इन चार नीतियों पर भली प्रकार विचार करना चाहिए। वाणी से विनीत रहे, किन्तु हृदय में छुरे के समान हो। मृदु वचन कहता हुआ काम और क्रोध से दूर रहे। अपने शत्रु के साथ सधि करके भी उसका विश्वास न करे। शत्रु को मित्र मानकर ऊपर से उसकी सान्त्वना करे, भीतर से नहीं। उससे सदा ऐसे उद्विग्न रहे, जैसे साँप वाले घर से। जिसकी बुद्धि विचलित हो, उसे अतीत की बात कहकर शान्त करे। जिसकी प्रज्ञा बिगड़ी हुई है, उसे भविष्य की आशा दिलाकर शान्त करे और जो पण्डित है, उसे तात्कालिक युक्ति द्वारा वश में करे।

अञ्जलिबद्ध शपथ और सान्त्वना दे, तथा प्रमाणपूर्वक भाषण करे। शत्रु के भी आँसू पोंछे। जब तक समय न बदले, शत्रु को कन्धे पर बैठाकर ले जाय। जब देखे समय बीत गया, तब उसे ऐसे पटक दे जैसे कन्धे पर रखे हुए पानी के घड़े को पत्थर पर दे मारते हैं। तिन्दु की जलती लकड़ी के समान मुहूर्त भर जलना अच्छा है, पर भूसी की अग्नि के समान देर तक धुँधुआना अच्छा नहीं। बिना प्रयोजन कृतघ्न के साथ किसी कार्य का सम्बन्ध न रखे। जिसका कुछ काम है, वह मुखापेक्षी बना रहता है। जिसका काम हो गया, वह उपेक्षा करने लगता है। इसलिए दूसरे के सब कामों को अधूरा रखे। कोयल, वराह, सुमेरु, शून्य घर, नट, अनुरक्त मित्र, इनके अच्छे गुणों का आचरण करे। कोयल के समान मीठी वाणी, वराह के समान शीघ्र सुनत आक्रमण, सुमेरु के समान स्वर्णदान, शून्य घर के समान आश्रय, नट के समान रिझाना, अनुरक्त मित्र के समान हितपरायणता, ये सारे गुण राजा को अपनाने चाहिएँ।

प्रतिदिन शत्रु के घर जाकर उसके कुशल प्रश्न पूछे, चाहे अकुशल ही हो। आलसी, नपुंसक और अभिमानी, लोकनिन्दा से डरने वाले और इन्तजार ही करने वाले अर्थ प्राप्त नही कर सकते। शत्रु अपना छिद्र न जानने पावे, पर राजा शत्रु की कमजोरी जान ले। अपने सब अंगों को ऐसे समेट कर रक्खे, जैसे कछुआ अपने अंगो को सिकोड कर रखता है। वगुले की तरह अपने काम का ध्यान रक्खे। सिंह के समान पराक्रम करे। भेडिये की तरह झपट्टा मारकर दूसरे को खा डाले। बाज की तरह वेग से बाहर निकल पडे। पान, अक्ष, स्त्री, शिकार, गाना-बजाना—इनका युक्ति से सेवन करे। इनमे अधिक आसक्ति बुरी है। राजा घास-फूँस से भी धनुष की डोरी बना ले। जगली जानवर की भाँति चौकन्ना होकर सोवे। अन्धेरे मे अन्धा बन जाय और मौके पर वहरा बन जाय। देश और काल में अपना पराक्रम दिखलावे। देश और काल के बीत जाने पर विक्रम निष्फल होता है। काल और अकाल तथा बल और अबल को विचार कर और शत्रु के बल को जानकर अपनी नीति या युद्ध का प्रयोग करे। दण्ड से झुकाये हुए शत्रु को जो राजा बन्धन में नही लाता, वह मृत्यु के मुख मे चला जाता है।

राजा को चाहिए कि कई तरह की विचित्र नीतियो का आश्रय ले। उस पर फूल तो खूब लगें, पर फल न आवें। कदाचित् फल आ भी जायँ तो इतनी ऊँचाई पर लगें कि उनका पाना कठिन हो। ऊपर से देखने में फल पके हुए जान पड़ें, पर भीतर से कच्चे रहें। किसी के लिए भी वे फल झड़ें नही। राजा जनता की आशा को लम्बे समय के लिए टाल दे। जब उसका समय आने वाला हो, तो उसमे कोई विघ्न डाल दे। विघ्न के साथ कोई निमित्त जोड दे और निमित्त के साथ कोई हेतु लगा दे।

जव तक भय आया न हो, तभी तक भीत के समान आचरण करे। जब भय को आया हुआ देखे, तव भय-रहित होकर प्रहार करे।

विना जोखिम उठाये मनुष्य कल्याण की वात नही पाता। जोखिम उठाकर यदि उसके प्राण वच जाते है, तो वह अपना भला पा लेता है।

जो अनागत है, उसे समझाने का प्रयत्न करना चाहिए। जो भय आ जाय, उसे दबाने का यत्न करना चाहिए। दबाये हुए भय की पुन: वृद्धि और क्षय सम्भव है। यह सोच कर यही समझता रहे कि अभी वह मिटा नहीं।

जिस गुण का समय आया हो, उसे छोड़ना बुद्धिमत्ता नहीं। और, जो गुण अभी आया नहीं है, उसकी आशा करना या उसके पीछे दौड़ना, यह भी बुद्धिमानी नहीं है।

जो शत्रु के साथ सन्धि करके विश्वास के साथ निश्चिन्त हो जाता है, वह मानो पेड़ की फुनगी पर सोकर वहाँ से गिरने का उपक्रम करता है।

राजा को चाहिए कि मृदु या तीक्ष्ण कर्म से अपना उद्धार करे और समर्थ होने पर धर्म का आचरण करे।

जो शत्रुओं के शत्रु हैं, उनसे भी प्रीति न करे। शत्रु अपने ऊपर जो गुप्तचर नियुक्त करे, उनकी जानकारी अवश्य रहनी चाहिए।

अपने और शत्रु के गुप्तचरों को जानना चाहिए और धार्मिक सम्प्रदायों के अनुयायी और तपस्वियों को शत्रु के देश में गुप्तचर बनाकर भेजना चाहिए।

उद्यान, विहार, प्रपा, आवसथ, पानागार, वेश, तीर्थ और सभाओं में गुप्तचर धर्म का आचरण करते हुए पापी दिखलाई पड़ते हैं। उन्हें पहचान कर उनका दमन करे या उन्हें अपनी ओर मिला ले।

अविश्वसनीय का विश्वास नहीं करना चाहिए तथा विश्वसनीय में भी अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। अधिक विश्वास करने वाले को सर्वत्र भय बना रहता है। अतः बिना परीक्षा किये हुए, किसी का विश्वास नहीं करना चाहिए। अत्यधिक विश्वास उत्पन्न करके मौका निकाल कर फिर प्रहार करे।

जहाँ शंका न भी हो, उससे भी शंका करनी चाहिए। जो अपने से डरता हो, उससे भी शंका करनी चाहिए।

शंकित व्यक्ति से उत्पन्न भय राजा को समूल नष्ट कर देता है।

एकाग्रता, मौन, गेरुआ वस्त्र, जटा, मृगचर्म, इन से शत्रु मे विश्वास उत्पन्न करके भेडिये की तरह उसे खा जाय।

अपना पुत्र, भाई, पिता और मित्र भी यदि अपने काम में विघ्न डालता है, तो मरवा डालना चाहिए।

गुरु भी यदि अभिमानी हो, कार्य और अकार्य का ज्ञान न रखता हो और उत्पथगामी हो, तो दण्ड से उसका शासन करना योग्य होता है।

शत्रु के आने पर उसका स्वागत और अभिवादन करे और कुछ दान-दक्षिणा दे, फिर तेज चोंचवाले पक्षी की तरह उस पर टूट पडे।

शत्रु के मर्म का भेदन किये बिना, दारुण कर्म किये बिना और प्रहार किये बिना, किसी को परम लक्ष्मी नही मिलती।

कोई जन्म से शत्रु या जन्म से मित्र नही होता। मतलब से ही शत्रु और मित्र हुआ करते है।

शत्रु यदि गिडगिडा कर भी वचन कहे, तो भी उसे छोडना नही चाहिए। किन्तु उसका पहला अपकार सोचकर उसका वध कर देना चाहिए।

राजा को उचित है कि संग्रह और अनुग्रह मे सदा यत्न करता रहे और उसी प्रकार निग्रह या दमन भी करता रहे।

जब राजा अपने शत्रु पर प्रहार करना चाहता हो, तो उसे पहले मीठी बातें करनी चाहिएँ। प्रहार करने के बाद भी मीठा वचन कहे। और, उसका सिर काट लेने के बाद आँसू बहावे और शोक करे।

सम्मान और तितिक्षा से शत्रु को निमंत्रण दे तथा इस प्रकार उसके मन मे आशा उत्पन्न करे।

शत्रु के साथ कभी सूखा बैर न करे। तैर कर नदी पार न करे। बिना मतलब के काम से आयुष्य घटती है। वह गाय का सीग निगलने के समान है। इससे दाँत भी घिस जाते है, कुछ स्वाद भी नही मिलता।

धर्म, अर्थ, काम रूपी त्रिवर्ग के उपभोग मे तीन तरह की पीडा होती है। फलों को स्वीकृति और दुःखो का वर्जन करना चाहिए।

ऋण, अग्नि और शत्रु इनका स्वल्प अश भी बाकी नही रखना चाहिए, क्योकि ये बार-बार बढ जाते है ।

बचा हुआ ऋण बढ जाता है, नष्ट शत्रु भी पुन· बढ जाते है । सदा सोच-विचार कर और प्रमादरहित होकर काम करे । छोटा काँटा भी छोडा हुआ रह जाय तो पक जाता है ।

राजा को उचित है कि मनुष्यो के वध से, मार्गों के दूषण से और खानो के विनाश से शत्रु के राष्ट्र का विनाश करे ।

राजा गृध्र के समान दृष्टि रक्खे, बगुले के समान एकाग्रता रक्खे, कुत्ते की चेष्टा रक्खे और सिंह का पराक्रम करे । कौवे के समान सशक रहे और साँप के समान आचरण करे, अर्थात् बिना डँसे भी फुँकारता रहे।

श्रेणी मुख्यों मे फूट डालते समय, प्रिय जनो मे अपने साले-संबधियो का अनुनय करते समय, भेद और सघात का कार्य करते हुए, अपने अमात्यो की रक्षा करनी चाहिए कि कही वे अपने विरुद्ध न हो जायें ।

राजा यदि मृदु होता है, तो लोग उसका अनादर करते है। यदि तीक्ष्ण होता है, तो उससे डरने लगते है । इसलिए मृदुता के समय मृदु और तीक्ष्ण काल मे तीक्ष्ण व्यवहार करना चाहिए ।

मृदु राजा मृदुता से अधिक मृदु को जीत लेता है, मृदुता से दारुण को भी वश मे कर लेता है । मृदु के लिए कुछ भी असाध्य नही । इसलिए मृदु व्यवहार सबसे अधिक तीक्ष्ण होता है ।

जो समय पर मृदु और समय पर तीक्ष्ण होता है, वह अपने सब कार्य साध लेता है, शत्रुओं पर भी अधिकार कर लेता है ।

पण्डित से वैर करके यह न समझ बैठे कि मै उससे दूर हूँ, वह मेरा क्या कर लेगा । पण्डित की भुजाएँ लम्बी होती है । उसके साथ हिंसा की गई हो, तो वह भी हिंसा कर सकता है ।

ऐसी नदी में नही तैरे, जिसे फिर तैर कर पार न कर सके । उस धन को न ले, जिसे शत्रु से न छीन सके । उसे खोदे नही, जिसे जड तक

उखाडना संभव न हो। उस पर चोट न करे, जिसका मस्तक काट कर न गिरा दे।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय राजनीति मे कणिक भारद्वाज अत्यन्त उग्र और कठोर दृष्टिकोण के प्रवर्तक थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भारद्वाज का नाम आया है। संभवतः वे ही आचार्य कणिक हो। शत्रु के साथ किसी भी प्रकार की सज्जनता या मैत्री का व्यवहार उन्हे सह्य न था। छल-छिद्र की नीति का प्रयोग भी वे शत्रु के सशरीर राष्ट्र के विनाश के लिए उचित मानते थे।

ज्ञात होता है कि कणिक भारद्वाज की राजनीति पूर्ण साम्राज्यवादी राजाओं की थी, जिसके अनुसार राजा लोग न्याय या अन्याय का विचार न करके दूसरे जनपदों का अपहरण करते हुए अपने साम्राज्य का मनमाना विस्तार करते थे। सभापर्व मे साम्राज्य और संघो की तुलना करते हुए सम्राट को कृत्स्नभाग या सबको हडप लेने वाला कहा गया है। (सभापर्व १४।२)

अध्याय १३९ मे एक ऐसी राज्य-स्थिति की कल्पना की गई है, जिसमें सभी कुछ विगड गया हो। परम धर्म क्षीण हो गया हो, सब लोग मर्यादा का उल्लघन करने लगे हो, धर्म अधर्म और अधर्म धर्म बन गया हो। मर्यादाएँ टूट गई हो, धर्म के बाँध हिल गये हो, राजा, चोर या दस्यु प्रजाओ का उत्पीडन करने लगे हो, सब लोग विश्वास खोकर भयभीत हो गये हो, और एक दूसरे को ठगने लगे हों। मानो सारे देश मे आग लग गई हो। ब्राह्मण और विद्वानो का समाज अभिपीडित हो। उस ओर मेघो की दृष्टि बंद हो गई हो और आपस मे फूट पैदा हो गई हो। जीविका के सभी साधन दस्युओ के हाथ मे चले गये हो। ऐसे बुरे समय के आने पर ब्राह्मण कैसे अपनी जीविका चलाए, और धर्मात्मा क्षत्रिय भी किस प्रकार जीवन यापन करे? (कथं च राजा वर्तेत लोके कलुषता गते। कथमर्थच्च धर्माच्च न हीयते परंतप ॥ १३९।८)

इस प्रश्न के उत्तर में प्रजाओं के योगक्षेम और सुवृष्टि को राज्य का मूल कहा गया है। अतः उस प्रकार का भयंकर समय आ जाने पर राजा और प्रजा दोनो यही कर सकते है कि अपने विज्ञान या वुद्धि से काम लें।

इसके समर्थन में विश्वामित्र की कहानी दी गई है कि भूख से पीडित होकर उन्होने श्वपचो के गाँव में कुत्ते का मास खाकर अपने प्राणो की रक्षा की। ऐसा करने मे कोई पाप नही है, क्योकि आत्मा की रक्षा मुख्य धर्म है। अपनी आत्मा सबसे बड़ा मित्र है। आत्माप्रिय और पूज्यतम है। उसकी रक्षा करना ही धर्म है। उसमें खाद्य-अखाद्य का विचार नही करना चाहिए। ऐसा विचार रखकर मनुष्य जीवन की रक्षा करे। यदि वह जीवित रहता है, तो फिर वहुत-से कल्याण जीवन में आते है।'

इसके उत्तर मे प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि ब्राह्मण ऋषि के लिए कुत्ते का मास-भक्षण ठीक मान लिया जाय, तो फिर दस्युओं के लिए और कौन-सी मर्यादा रहेगी। धर्म शब्द का अर्थ शिथिल हो जायगा। इसका समाधान यह कहकर किया गया है कि ऐसी परिस्थिति में शुद्ध शास्त्र की दुहाई देना ठीक नही, वल्कि वुद्धि से उस गाठ को खोलना चाहिए। इस विषय में अनेक प्रकार से वुद्धियो का विस्तार ऋषियो ने किया है, उनके अनुसार काम करने का मनुष्य को अधिकार है। राजा को उचित है कि अनेक प्रकार की प्रज्ञाओ से काम ले। लोक में जहाँ-तहाँ ऐसी प्रज्ञाएँ भरी हुई है। सव जगह उन्हे शास्त्र से सिद्ध नही किया जाता। यह विचार-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त था। एक ओर शास्त्र है। दूसरी ओर मनुष्य की प्रज्ञा अपनी समझ-बूझ से चलती है। वुद्धि से उत्पन्न धर्म का पालन भी एक विधान है। विजयेच्छु लोग वुद्धि का आश्रय लेकर विजय प्राप्त करते है। धर्म की एक शाखा नही है, वह वहुत

एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत्।
जीवन्पुण्यमवाप्नोति नरो भद्राणि पश्यति ॥ (१३९।९३)

शाखाओ वाला महावृक्ष है। (नैकशाखेन धर्मेण राज्ञां धर्मो विधीयते) अपनी प्रज्ञा के अनुसार धर्म का पालन ठीक मार्ग है। नही तो किये हुए कर्म का लोग उलटा अर्थ लगा लेते हैं। कुछ व्यक्ति सम्यग् विज्ञानी होते हैं और कुछ मिथ्या विज्ञानी। जिसमे जैसी बुद्धि होती है, उसी के अनुसार वह वैसा करता है। धर्म के लुटेरे शास्त्र को भी चुरा लेते हैं। और, वे अर्थ को उलटे-पुलटे रूप में रखते हैं। शास्त्र मे दोप निकालने वाले ऐसे व्यक्ति शास्त्र के चोर होते है। वे दूसरे की विद्या की निन्दा करके अपनी विद्या को ठीक वताते हैं। ऐसे लोग विद्या वेचने वाले बनिये हैं। वाणी की छुरी से वे विद्या के फल को निचोड लेते हैं। ऊपर जो कहा गया है वह वृहस्पति के लोकायत मत को लक्ष्य करके कहा गया है।[1] धर्म के निर्णय मे शास्त्र का कुछ प्रमाण नही है। धर्म मनुष्य की निजी बुद्धि पर निर्भर है। पूर्वकाल मे शुक्राचार्य के राजधर्म मे शास्त्र और बुद्धि इन दोनो को प्रमाण माना गया था।

इस अध्याय मे बुद्धि स्वातन्त्र्य पर जो इतना वल दिया गया है और धर्म-कर्म के निर्णय मे उसकी सबसे अधिक दुहाई दी गई है, वह वाहर से आए हुए शक-कुपाण-वशी राजाओ की राजनीति जान पडती है। मालवा के क्षत्रप, मथुरा और तक्षशिला के क्षत्रप यवन और यूनानी राजनीति के मानने वाले थे। उन्ही के सिद्धान्तो का अध्याय १४० में प्रतिपादन ज्ञात होता है। किन्तु इस विषय मे अधिक अन्वेपण की आवश्यकता है।

अध्याय १४१-१४५ मे जो कपोत-कपोती के आतिथ्य धर्म का ज्वलंत दृष्टान्त हैं, वह भी उन्ही की कहानियो से लिया गया जान पडता है। दृष्टान्त मे कहा गया है कि पेड पर घोसला वना कर रहते हुए कपोत-कपोती ने पेड के नीचे आए हुए एक वहेलिये को अपना अतिथि मानकर उसकी क्षुधा निवृत्ति के लिए अपने शरीर का मास दे दिया। इसके पुण्य फल से वे दोनो विमान मे वैठकर स्वर्ग चले गए। यह आख्यान अभिप्राय

---

१. इति वार्हस्पत ज्ञानं प्रोवाच मघवा स्वयम्। (अ० १४०।१७)

दशा मे कैसे हो? सेमल ने कहा, "मै बुद्धि के बल से अपनी रक्षा करता हूँ।" यह सुनकर नारद ने वायु से चुगली खाई, जिसे सुनकर वायु क्रुद्ध हुआ और सेमल पर चढाई करने के लिए उस जंगल मे आया। यह देखकर सेमल ने सोचा, 'कोई दूसरा वृक्ष मेरे समान बुद्धिमान् नही है। मैं अपने बुद्धिबल से इस भय को पार करूँगा'।[1]

तब सेमल ने अपनी पत्तियाँ, टहनियाँ और शाखाएँ गिरा दी। वह मोटे गुद्दो के साथ ठूंठ मात्र बन गया। उसने मुस्कुराकर वायु का मुकाबला किया और वायु का अन्धड उसका कुछ न बिगाड़ सका। अच्छी नीति तो यही है कि दुर्बल बलवान् के साथ बैर न करे, किन्तु यदि मौका पड़ ही जाय तो बुद्धि से अपनी रक्षा करनी चाहिए।[2]

लोभ

प्रश्न यह उठाया गया है कि राजा के सबसे बडे पापो मे कौन बड़ा पाप है? उत्तर मे कहा गया है कि लोभ सबसे बडा दुष्कर्म है। लोभ से क्रोध, लोभ से काम, लोभ से मोह, माया, अभिमान, अकड, जुआ, लज्जा का परित्याग, श्री नाश और धर्म संक्षय, चिन्ता और अप्रज्ञता सभी कुछ लोभ से हो जाता है।

अन्याय, वितर्क, विकर्म, कूट विद्या आदि, रूप और ऐश्वर्य का मद, सब मे अविश्वास, कुटिलता, सब मे अयुक्तता और अभिद्रोह, पराये धन का हरण, परस्त्री पर कुदृष्टि, वाग्वेग, मानस वेग, निन्दा वेग, काम और भूख का वेग, दारुण मृत्यु, ईर्ष्या वेग, मिथ्या वेग, रस लोलुपता, श्रोत्र वेग, निन्दा और शेखी, मात्सर्य, दुष्कर्म, सब तरह का साहस, ये सब लोभ से उत्पन्न हो जाते है। बुड्ढा होता हुआ भी व्यक्ति इन्हे नही छोडता। जितना अधिक मिलता है, उतना ही अधिक लोभ बढता है,

---

१. किं तु बुद्ध्या समो नास्ति मम कश्चिद्वनस्पतिः।
तदहं बुद्धिमास्थाय भयं मोक्ष्ये समीरणात्॥ (१५१।१६)

२. तस्माद्वैरं न कुर्वीत दुर्बलो बलवत्तरैः। (१५१।२७)

अज्ञान

लोभ का वर्णन करने के वाद कहा गया है कि उसी का दूसरा रूप अज्ञान है ।[1]

अज्ञान के लक्षण ये कहे गए है—

राग, द्वेष, मोह, हर्ष, शोक, अभिमानिता, काम, क्रोध, दर्प, तन्द्रा, आलस्य, इच्छा, द्वेप तथा दूसरे की बढती से जलन ।

लोभ से सब दोष आ जाते है, इस लिए लोभ का त्याग करना चाहिये । जनक, युवनाश्व, वृषादर्भि एवं प्रसेनजित् ये राजा अपनी निर्लोभता से स्वर्ग के अधिकारी हुए ।

दम-प्रशंसा

अ० १५४ मे प्रश्न उठाया गया है कि लोक मे अनेक दर्शन है और धर्म के अनेक पक्ष है, उन सबमे उत्तम कौन है ?[2] इसका सुनिश्ति

सुखं दुःखं परं येषां सत्य येषां परायणम् ।
दातारो न गृहीतारो दयावन्तस्थैव च ॥२२॥
पितृदेवातिथेयाश्च नित्योद्युक्तास्तथव च ।
सर्वोपकारिणो धीरा सर्वधर्मानुपालकाः ॥२३॥
सर्वभूतहिताश्चैव सर्वदेयाश्च भारत ।
न ते चलयितुं शक्या धर्मव्यापारपारगाः ॥२४॥
न तेषां भिद्यते वृत्तं यत्पुरा साधुभि कृतम् ।
न त्रासिनो न चपला न रौद्राः सत्पथे स्थिताः ॥२५॥
ते सेव्याः साधुभिर्नित्यं येष्वहिंसा प्रतिष्ठिता ।
कामक्रोधव्ययेता ये निर्ममा . निरहंकृताः ।
सुव्रताः स्थिरमर्यादा तानुपास्व च पृच्छ च ॥२६॥
(अ० १५२)

१. अज्ञानं चातिलोभश्चाप्येकं जानीहि पार्थिव । (१५२।९)
२. महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत ।
किं स्वदेवेह धर्माणामनुश्रेष्ठतमं मतम् (॥१५४।२॥)

कर उसे लोग अशक्त मान लेते हैं। इसमे एक बड़ा गुण भी है कि क्षमावान् के लिये अधिक-से-अधिक लोग सुलभ हो जाते हैं। दान्त व्यक्ति जहाँ रहता है, वही अरण्य और आश्रम बन जाता है। (अ० १५४)

तप प्रशंसा

दम के प्रसंग में तप की महिमा का वर्णन किया गया है। प्रजापति ने इस विश्व को तप से ही बनाया। उन ऋषियो ने तप से ही वेदों को प्राप्त किया। सिद्ध लोग तप से ही तीनों लोकों को देखते हैं, और औषधियाँ, तीनों विद्याएँ तप से ही सिद्ध होती हैं। सब साधनों का मूल तप है।

जो दुष्प्राप्य हो, जो समझने मे बुद्धि के लिए दुर्गम हो, जो कठिनाई से वश में आने योग्य हो, और मनके उत्साह से बाहर का हो, वह सब तप से प्राप्त किया जाता है। तप की शक्ति से बाहर कुछ नहीं है।

यद्यपि तप के बहुत से मार्ग हैं, किन्तु निवृत्ति-पूर्वक जीवन एवं अनशन से बढकर कोई तप नहो। अहिंसा, सत्यवचन, दान और इन्द्रिय-निग्रह ये तप है, किंतु अनशन से बढ़कर नही। ऋषि, देव, पितर, मनुष्य और पशु तथा और भी जो चराचर प्राणी हैं, सब तपपरायण होकर तप से ही सिद्धि प्राप्त करते है। तप से देवत्व भी मिल सकता है।

सत्य की प्रशंसा

इस प्रसंग में तप के अनन्तर सत्य के विषय मे प्रश्न किया गया है। सत्य का क्या लक्षण है और उससे किस फल की प्राप्ति होती है। सन्तों का धर्म सत्य हैं। सत्य ही सनातन धर्म है। चारों वर्णों की अविकारित स्थिति सत्य से ही प्राप्त होती है। सत्य ही धर्म, तप और योग है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य ही परम यज्ञ है। सत्य मे सब प्रतिष्ठित है। लोक में सत्य के १३ प्रकार हैं—

सत्य, समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा, ह्री, तितिक्षा, अनसूया, त्याग, ध्यान, आर्यत्व, स्थिर धृति, एवं अहिंसा। सत्य सदा अव्यय और अविकारी रहता है। योग से सत्य की प्राप्ति होती है। सत्य की परिभाषा में आने वाले दूसरे गुण अमात्सर्य, दान, धर्म मे संयम, प्रशान्त वचन,

ह्री, तितिक्षा, क्षान्ति, स्नेह का त्याग, विषयो का त्याग, रागद्वेष का त्याग, वीतराग, शुभाशुभ कर्मो का निराकरण, सदा क्षमा और सत्य है। पण्डित ही भय और क्रोध से ऊपर उठ कर धृति प्राप्त करता है। मन, कर्म, और वाणी से सब भूतो मे अद्रोह का और अनुग्रह का भाव, यह सज्जन का लक्षण है। सत्य की परिभाषा में आने वाले गुणो का अन्त नही है। अत ब्राह्मण, पितृगण और देवता सभी सत्य की प्रशसा करते है। सत्य से बडा धर्म नही है और झूठ से बडा पाप नही है। धर्म की टेक सत्य है। इसलिए कभी सत्य का लोप नही करना चाहिए।[1] दान, यज्ञ, व्रत, अग्निहोत्र और वेद ये सब सत्य के रहने से ही पास आते हैं।

क्रोधादि दोष निवृत्ति

क्रोध, काम, शोक, मोह, विवित्सा, परनिन्दा, मद, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, कुत्सा, असूया, कृपा, ये तेरह दोष मनुष्य की नैतिक हानि करते है। इससे दु:ख और पाप होता है।

दोषो की उत्पत्ति के विषय में कहते है कि लोभ से क्रोध होता है। पर दोषो से क्रोध बढता है। क्षमा से शान्त होता है। श्री से लोभ की निवृत्ति हो जाती है। संकल्प से काम होता है। सेवन से काम बढता है। तत्त्व-ज्ञान से वह दूर होता है। अल्पबुद्धि पुरुषो को शास्त्रो में विरोध लगता है। कामना से वस्तुओ को प्राप्त करने की इच्छा बढ जाती है, जिसकी निवृत्ति तत्त्व-ज्ञान से ही होती है। प्रीति से शोक होता है। वियोग उस शोक का कारण बन जाता है। जब प्रीति के लिए कोइ अर्थ नही रहता, तो व्यक्ति नष्ट हो जाता है। लोभ और क्रोध से अपने प्राण दूसरे के वश में हो जाते है। सब भूतो मे दया और निर्वेद से अत्यन्त परवशता दूर होती है। सत्य के त्याग से मात्सर्य उत्पन्न दूर होता है और मनुष्य का मन अहित मे लग जाता है। साधुओ की सेवा से इसकी निवृत्ति हो जाती है।

---

१. नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्॥ (१५६।२४)

कुल, ज्ञान और ऐश्वर्य से शरीरधारियो मे मद उत्पन्न हो जाता है। इन्ही के शुद्ध विज्ञान से मद चला जाता है। काम और संघर्ष से ईर्ष्या होती है। प्रज्ञा के उदय से ईर्ष्या हट जाती है। द्वेषपूर्ण असंगत वाक्यो से कुत्सा उत्पन्न हो जाती है। उसका निराकरण उपेक्षा से हो जाता है। यदि अपकारी बलवान् का प्रतिकार नही किया जाता तो असूया होती है और करुणा के भाव से उसकी निवृत्ति होती है। कृपणो या दीनो को सदा देखते रहने से कृपा उत्पन्न होती है। धर्मनिष्ठा से वह शान्त हो जाती है। इन्हे ही जीतने से पाण्डवो की विजय और न जीतने से कौरवो की हार हुई।

नृशंस या निष्ठुर व्यक्ति के लक्षण

अध्याय १५८ मे नृशंस व्यक्ति के लक्षण बताये गये है। युधिष्ठिर ने प्रश्नारम्भ करते हुए कहा कि मैने दयालु या कृपावान के विषय मे तो सुना, किन्तु नृशंस व्यक्ति के लक्षण नही सुने। भीष्म ने उत्तर मे किसी बहुत ही भयकर व्यक्ति का चरित्र-चित्रण करते हुए उसे नृशंसता का नमूना बताया।

जो मनोभावना को छिपाकर रखता है और जिसके कर्म से उसका उद्देश्य जाना जाता है, जो आक्रोश करता है, जो दूसरो को बन्धन मे डालता है और दूसरे भी जिसे बन्धन मे डालते है, जो अपने दान का बखान करता है, जो सबसे टेढा बना रहता है, जो क्षुद्र, शठ और अपकारी, असंभोगी, अभिमानी, व्यसनी और शेखीखोर, सब पर शंकाशील, कठोर, मूर्ख और कृपण होता है, जो अपने वर्ग की प्रशसा करता है, जो आश्रमो से द्वेष करता है, जो धर्मो का सकर या वर्णसकर करता है, जो सदा हिंसामय आचरण करता है, जिसमे कोई विशेष गुण नही होता, जिसमे बहुत तरह का झूठ भरा हो, जो बहुत लोभी, निष्ठुरकर्मा, जो धर्मशील गुणवान् को पापी समझता है, जो अपने स्वभाव के अनुसार किसी का विश्वास नही करता, जो पराए दोषो और रहस्यो का भण्डाफोड करता है, और उनके कार्यो मे विघ्न डालता है, जो अपने उपकारी को ठगिया समझता

काम्बोज को, काम्बोज ने मुचुकुन्द को, मुचुकुन्द ने मरुत्त को, मरुत्त ने रैवत को, रैवत ने युवनाश्व को, युवनाश्व ने रघु को, रघु ने हरिणाश्व को, हरिणाश्व ने शुनक को, शुनक ने उशीनर को, उशीनर ने भोजवंशी यादवों को, यादवो ने शिवि को, शिवि ने प्रतर्दन को, प्रतर्दन ने अष्टक को, उसने रुशदश्व को, रुशदश्व ने भरद्वाज को, उसने द्रोण को, द्रोण ने कृप को, और कृप से उसे आप ने पाया। (अ० १६०)

यहां लेखक ने यह ध्यान रक्खा है कि तलवार की उत्पत्ति मे ब्रह्मा, शिव और विष्णु तीनों देवो ने भाग लिया और उसकी परम्परा जीवित रखने मे सूर्यवंश, चन्द्रवंश, पूरुवंश, यदुवंश के राजाओ एवं भरद्वाज, द्रोण, कृपाचार्य आदि क्षत्र-ब्राह्मणो ने भाग लिया और अन्त मे वह तलवार युधिष्ठिर के हाथ मे आयी, जिससे धर्मराज्य की स्थापना हुई।

राजधर्म प्रकरण का लगभग अन्त करते हुए एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठाया गया कि त्रिवर्ग में कौन छोटा और कौन वडा है? (अ० १६१) इस पर भीष्म चुप रहे, पर विदुर ने धर्म को त्रिवर्ग मे श्रेष्ठ बताया। धर्म से ऋषियो ने इस लोक को पार किया। धर्म मे ही यह लोक प्रतिष्ठित है। धर्म से देवताओ ने स्वर्ग पाया। धर्म मे ही अर्थ भी संनिविष्ट है। धर्म को मनीषी श्रेष्ठ, अर्थ को मध्यम और काम को अधम कहते है।

इसके वाद अर्जुन ने अर्थ को प्रशंसा की। यह भूमि कर्मभूमि है, यहाँ वार्ता या अर्थशास्त्र प्रशंसनीय है (कर्मभूमिरियं राजन् इह वार्ता प्रशस्यते)। कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और विविध शिल्प ये सव अर्थ के अधीन है। विना अर्थ के धर्म, काम नही हो सकते। विजयी अर्थवान् व्यक्ति ही धर्म की आराधना कर सकता है। वही काम का उपभोग भी कर सकता है। धर्म और काम दोनो अर्थ के अवयव है। अर्थ सिद्धि से दोनो की पूर्ति होती है। अर्थसंपन्न व्यक्ति की लोग ब्रह्मा की तरह पूजा करते है। लोग अपने-अपने रास्ते पर चलते है। कोई अर्थ चाहते है, कोई स्वर्ग।

अर्जुन की वात का नकुल और सहदेव ने भी समर्थन किया। तव

भीम बोले कि मेरी सम्मत्ति में काम त्रिवर्ग में सबसे बडा है। बिना काम के कोई अर्थ नही चाहता। बिना काम के कोई धर्म की इच्छा नही करता। काम से ही युक्त होकर ऋषि तपस्या मे लगे कि इससे स्वर्ग के भोग से सुखी होगे। काम से सयुक्त मनुष्य स्वाध्याय करते है, यज्ञ, दान करते है एव समुद्र यात्रा पर चले जाते है। काम के अनेक रूप है। सब कुछ काम का ही विस्तार है। न पहले कभी था, न है और न भविष्य में काम से वढकर कुछ होगा। काम ही धर्म, अर्थ का आश्रय है। जैसे दही से नवनीत निकलता है, वैसे ही धर्म और अर्थ का फल काम है। खली से तेल अच्छा है। मठ्ठे से घृत अच्छा है। काष्ठ से फूल और फल अच्छे है, वैसे ही धर्म, अर्थ से काम अच्छा है।

काम की चोट बडी गहरी होती है। सुन्दर स्त्रियो के रूप में काम का धावा होने पर कोई ठहर नही पाता। मेरी तो ऐसी सम्मति है, पर अच्छा तो यह है कि त्रिवर्ग का एक साथ सतुलित सेवन किया जाय। यह सुनकर युधिष्ठिर कहा, "शास्त्रो की राय अलग-अलग है। मै समझता हूँ कि जो धर्म, अर्थ, काम इन तीनो में नही फँसता, उसका जीवन अच्छा है—

> यो वै न पापे निरतो न पुण्ये
> नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे।
> विमुक्तदोष समलोष्टकाञ्चन
> स मुच्यते दु खसुखार्थसिद्धे ॥ (१६१।४२)

पाप और पुण्य को, मिट्टी के ढेले और सोने को एव धर्म, अर्थ और काम को एक सा समझने वाला व्यक्ति अच्छा है। पर उसे दोषो से रहित होना चाहिए। इसके बाद उन्होने भीष्म की अर्थ युक्त वाणी की प्रशसा की। (अ० १६२)

कृतघ्न की निन्दा

राजनीति शास्त्र के अन्त मे एक ऐसे व्यक्ति के विषय मे प्रश्न किया गया, जिसमे नीति और आचार के सभी दोष होते है और जो आगे-पीछे

गुप्त-प्रकट सभी तरह से हिंसा और प्रहार करता है। ऐसे व्यक्ति की राजनैतिक संज्ञा कृतघ्न है। कोई भी ऐसा दोप नही जो कृतघ्न में न पाया जाता हो। कृतघ्न के लक्षण विस्तार से कहे गए हैं।

इसके विपरीत कुलीन, वाक्य-सम्पन्न, ज्ञान-विज्ञान में निपुण, मित्रज्ञ, कृतज्ञ, सर्वज्ञ, शोक-रहित, माधुर्ययुक्त, सत्यसंध, जितेन्द्रिय, व्यायामशील, रूपवान्, गुण-सम्पन्न, दोपविहीन, खेदरहित, यथाशक्ति कार्य करनेवाले, शास्त्रो के अर्थ मे निपुण, कार्य-परायण, विश्वस्त, बन्धुवत्सल, मिट्टी और सोने को समान माननेवाले, अभिमान-रहित, स्वाम्यर्थपरायण—ऐसे श्रेष्ठ पुरुपो से राजा को संधि करनी चाहिए और ढूँढ ढूँढकर उनका संग्रह करना चाहिए। सदा शास्त्रो पर आरूढ रहने वाला, जितक्रोध, वलवान्, रणप्रिय, क्षमायुक्त, शील-सम्पन्न पुरुप संधि के योग्य है।

अन्त मे कृतघ्नता की चरम सीमा दिखाने के लिए एक कहानी कही गई। मध्य देश का कोई ब्राह्मण उत्तर दिशा मे म्लेच्छो के देश मे गया। वहाँ वह शवरो के ग्राम में वस गया। वहाँ दस्युराज से उसे धन और जीविका मिल गई। फिर कभी समुद्र की ओर जाने वाले एक सार्थ के साथ वह पूर्व दिशा मे समुद्र के तट पर रहने वाले किसी दिव्य पक्षी के घर पहुँचा और उससे अपनी निर्धनता का हाल कहा। पक्षी ने उसे अपने मित्र एक महात्मा राक्षस के यहाँ भेज दिया और यह भी कहा कि राक्षस उसे बहुत धन देगा। ऐसा ही हुआ। उस धन को लेकर वह पक्षिराज के पास आया। वहाँ मार्ग में भोजन के लिए मास की लिप्सा से उसने पक्षिराज को भी मार डाला। अपने मित्र का वध सुनकर राक्षस को बहुत दु:ख हुआ और उसने ब्राह्मण के बहुत से टुकडे करवा कर उसका मास दस्युओ को दे दिया। पर दस्युओ ने कृतघ्न का मास नही खाया तथा कीडो ने भी उसे नही छुआ। तव देवो की गौ सुरभि के फेन से पक्षिराज जीवित हो गए और उनके कहने से देवराज इन्द्र ने ब्राह्मण को भी अमृत छिडक कर जीवित कर दिया। पक्षीराज ने वह सुवर्ण और धन उस कृतघ्न ब्राह्मण देकर उसे उसके घर भेज दिया। इस कहानी मे कृतघ्न व्यक्ति के

: ८५ :

मोक्षधर्म पर्व

(अ० १६८–३५३)

मोक्षधर्म का अर्थ और विभिन्न दृष्टियां

शान्तिपर्व का तीसरा भाग मोक्षधर्म पर्व के नाम से प्रसिद्ध है। यह परिमाण मे राजधर्म और आपद्धर्म को मिलाकर दोनों से बडा है। यह शान्तिपर्व का हीरक है। इसके १८६ अध्यायो में धर्म और दर्शन की सामग्री का अपरिमित भण्डार है। उसके तीन स्तर है। पहले स्तर में कई नास्तिक मतो का उल्लेख है, जिनका वर्णन बौद्ध साहित्य मे मिलता है, जैसे नियतिवाद, अक्रियावाद। इसी के साथ ब्रह्ममूलक आस्तिक दर्शन का भी विस्तार से विवेचन है। दूसरे स्तर के कितने ही अध्यायो मे साख्य और योग, इन दो दर्शनो का वर्णन है। तीसरे मे पञ्चरात्र, भागवत या नारायण-धर्म का वर्णन है। (अ० ३२१–३५३)

उस युग की शैली यह थी कि अनेक आचार्य मोक्ष-प्राप्ति के लिये अपना-अपना मत प्रकट करते थे और अपने शिष्यों मे उसका प्रचार करते थे। उनका तथाकथित उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति था। इसीलिए उन्हे मोक्ष-धर्म शीर्षक के अन्दर संगृहीत किया गया है। मोक्ष की ही संज्ञा परम गति थी। यह उल्लेखनीय है कि पाणिनि ने इन मतों का वर्गीकरण करते हुए इन्हे आस्तिक, नास्तिक और दैष्टिक (=नियतिवाद) मति कहा है। मति को ही दृष्टि या दिट्ठि कहा जाता था। दृष्टि का अर्थ दृष्टिकोण अर्थात् मोक्ष या जीवन के विषय मे एक अभिमत या ज्ञापन है। यह भी स्मरणीय है कि इस प्रकार के सैकड़ो मत थे और उनमे परस्पर आदान-प्रदान भी खूब रहता था। अत. एक-एक आचार्य की दृष्टि के अन्तर्गत एक मुख्य मत के अतिरिक्त कई अवान्तर मतो का संस्पर्श भी रहता था।

इन सिद्धान्तो में से कुछ के बारे मे नीचे बताया जा रहा है।

लोकपर्याय वाद

लोक मे सब घटनाएं बारी-बारी से होती है। यही लोकपर्याय

है। इससे सूचित होता है कि तृष्णा को दु.ख मानने का मत भी इसके साथ था, जिसे बुद्ध ने स्वीकार किया।

यहा आगे कहा गया है, सुखके अनन्तर दुःख और दुःख के अनन्तर सुख आता है। न नित्य कोई व्यक्ति सुखी देखा जाता है, न नित्य दु खी ही। मित्रों से सदा सुख और शत्रुओं से सदा दुःख नही होता। प्रज्ञा से सब अर्थ मिल जाय और धन से सुख मिल जाय, यह भी निश्चित नही है।[1] ऐसा जान पडता है, यहाँ इस मत मे प्रज्ञावाद पर भी एक हलकी चोट की गई है। इस मत के अनुयायी प्रज्ञा के लिए कुछ आस्था रखते थे, पर उसको भी लोक के घूमते हुए पहिये के अनुसार ही स्थान देते थे। प्रज्ञा कभी काम बनाती है, कभी नही। बुद्धि से धन मिलता है और मूर्खता से दरिद्रता ही, यह भी निश्चित तथ्य नही है। इसे तो लोकपर्याथ ही कहा जा सकता है। ज्ञात होता है यह लोकपर्याय कालपर्याय का ही एक पुछल्ला था, जिसके दृष्टान्त लोक जीवन मे भरे पडे है। हो सकता है, इसके प्रतिपादन मे लोकायत आचार्यो का भी कुछ हाथ हो। जो होने वाला सुख है, वह बुद्धिमान् और मूढ को, शूर और कायर को, जड और कवि को, दुर्बल और बलवान् को स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। बछडा, ग्वाला, स्वामी, ये चारो गाय को अपनी मानते है, पर जो उसका दूध पीये, गाय उसीकी है। ऐसे ही जीवन मे सुख-संपत्ति की

---

१. सुखात्संजायते दुःखमेवमेतत्पुनः पुनः।
सुखस्यान्तरं दु खं दु खस्यान्तरं सुखम् ॥१८॥
सुखात्त्वं दुःखमापन्नः पुनरापत्स्यसे सुखम्।
न नित्यं लभते दु खं न नित्यं लभते सुखम् ॥१९॥
नालं सुखाय सुहृदो नालं दु खाय शत्रवः।
न च प्रज्ञालमर्थानां न सुखानामलं धनम् ॥२०॥
न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥२१॥

ज्ञात होता है कि लोक-पर्याय मत के अन्तर्गत कई अवान्तर मत थे। उन्ही मे तृष्णाक्षय और मन को सब ओर से आशारहित करने या नैराश्य का मत भी था। पिंगला वेश्या ने अपने आप को इसका दृष्टान्त बताया था! निराश व्यक्ति सुख से सोता है, नैराश्य परम सुख है। आशा को अनाशा बनाकर पिङ्गला सुख से सोती थी। (अ० १६८)

मृत्यु और अमृत का दृष्टिकोण

(अ० १६९)

इस जीवन में सबसे बडी घटना मृत्यु है। वह आती है और बाघ की तरह उठा ले जाती है।[1] जरा और व्याधि का अन्त मृत्यु मे होता है। उससे बचने के लिए अमृत की साधना ही एक मात्र उपाय है। अमृत की साधना ही जीवन का परम फल है। मृत्यु के निश्चित होने से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि कल का काम आज करे और तीसरे पहर का प्रात. काल करले, क्यो कि मृत्यु किसी की बाट नही देखती। मृत्यु और अमृत दोनो इसी मानव-देह मे देखे जाते है। मोह से मृत्यु और सत्य से अमृत की प्राप्ति होती है।[2] बौद्ध लोग भी जरा, रोग और मृत्यु इन तीनों भयो से सावधान करके निर्वाण सुख की प्राप्ति का उपदेश देते थे। वस्तुतः अमृत-मृत्युवाद वैदिक सिद्धान्त था। देवता मृत्यु से ऊपर उठकर

यदा संहरते कामान्कर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
तदात्मज्योतिरात्मा च आत्मन्येव प्रसीदति ॥४०॥
किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम्।
तदेव परितापार्थं सर्वं संपद्यते तदा ॥४१॥
न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म संपद्यते तदा ॥४२॥

१ व्याघ्रः पशुमिवादाय मृत्युरादाय गच्छति ॥१८॥

२. अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।
मृत्युमापद्यते मोहात्सत्येनापद्यतेऽमृतम् ॥२८॥

अमर हो गये हैं। मानव को भी सत्य और यज्ञ, ब्रह्मचर्य और संयम से अमर बनना चाहिए। उसी प्राचीन बीज से इस दृष्टिकोण का जन्म हुआ था। इस दृष्टि या मत के साथ किसी का विवाद न था। उद्योगपर्व (अ० ४२।४) में सनत्सुजात ने भी इस दृष्टिकोण को माना है। वहा प्रमाद को मृत्यु और अप्रमाद का अमृत का पद माना गया है, जैसा धम्मपद के अप्पमाद वग्ग की पहली गाथा में आया है। जिसकी वाणी और मन संयत रहते हैं, जो तप, त्याग और योग में निरत रहता है, वह सब कुछ या अमृत पद पा लेता है।

आकिंचन्य मत
(अ० १७०)

आकिंचन्य का अर्थ है, सब प्रकार अकिंचन बन जाना। पालि मे इसे आकिञ्चञ्ञ कहा गया है। जब मनुष्य का मन ससार के सब पदार्थों से अपने को खींच लेता है, तब उसे आकिंचन्य व्रतधारी कहा जाता है। वानप्रस्थ और सन्यासियों के लिए यह जीवन का एक प्रकार था। इसके लिए व्यक्ति को अकामात्मा बनना चाहिए।[1]

अकिंचन वृत्ति धारण करने से मनुष्य सुख पाता है। अकिंचन सुख से सोता और सुख से जागता है। लोक मे आकिंचन्य हितकर, सुखकर और अनामय प्रकार है। मेरी दृष्टि में शुद्ध आकिंचन्य के समान तीनों लोकों में और कुछ नहीं है। आकिंचन्य और राज्य को पलड़ो मे रखकर तोला गया तो आकिंचन्य ही भारी निकला।[2] यहा स्पष्ट रूप से उसे दरिद्रता कहा गया

---

१. न वै चरसि यच्छ्रेय आत्मनो वा यदीहसे।
अकामात्मापि हि सदा धुरमुद्यम्य चैव हि ॥ ६ ॥

२. अकिंचनः परिपतन्सुखमास्वादयिष्यसि।
अकिंचनः सुखं शेते समुत्तिष्ठति चैव हि ॥ ७ ॥
आकिंचन्यं सुखं लोके पथ्यं शिवमनामयम्।
अनमित्रमथो ह्येतद्दुर्लभं सुलभं सताम् ॥ ८ ॥

है, पर वह अपनी इच्छा से चुनी गई दरिद्रता है, विवशता से आई हुई निर्धनता नही। आकिंचन्य का मूल अपरिग्रह व्रत था। राजा के लिए तो धन का नाश या मृत्यु भी संभव है, पर अकिंचन के लिए कोई भय या क्लेश नही होता। जो अपनी भुजा का तकिया बनाकर बिना बिछावन के सोता है, स्वर्ग के देवता भी उससे सिहाते है। आकिंचन्य धर्म का मूल त्याग कहा गया है, जो यथार्थ है। शम्याक नामक ब्राह्मण का त्यागमूलक आकिंचन्य के विषय में ऐसा मत था।

नियतिवाद
(अ० १७१)

अध्याय १७१ मे मङ्कि ऋषि के नियतिवाद का विस्तार से वर्णन है। मङ्कि को ही बौद्ध और जैन ग्रन्थो में मंखलि गोसाल कहा है। पाणिनि ने इन्हे मस्करी कहा है। नियति को दिष्टवाद भी कहा जाता था, जिसे पाणिनि ने दैष्टिक मत कहा है। दिष्ट का सीधा अर्थ था भाग्य। 'दिष्ट्या वर्धते भवान्' इस प्राचीन उक्ति मे वही दिष्टि शब्द है। दैष्टिक आचार्य पुरुपार्थ के विरोधी थे। वे भाग्य को ही सब कुछ मानते थे। पतंजलि ने मस्करी शब्द की व्याख्या इसी प्रकार की है—मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि शान्तिर्व. श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः (६।१।१५४)। निर्वेद या शम या शान्ति का सिद्धान्त इस दर्शन मे मुख्य था। बौद्ध और जैन साहित्य मे मखलि के मत का वर्णन है, किन्तु शान्तिपर्व के इस अध्याय मे वह कही अधिक विस्तार से पाया जाता है। यहा कहा गया है कि इस दर्शन के पाँच सिद्धान्त मुख्य थे, अर्थात्

१ सर्वसाम्य—सब अवस्थाओ मे समत्व,

अकिंचनस्य शुद्धस्य उपपन्नस्य सर्वशः।
अवेक्षमाणस्त्रीँल्लोकान्न तुल्यमुपलक्षये ॥ ९ ॥
आकिंचन्यं च राज्यं च तुलया समतोलयम्।
अत्यरिच्यत दारिद्र्यं राज्यादपि गुणाधिकम् ॥१०॥

२ अनायास—सब प्रकार के पुरुषार्थ का निराकरण,

३ सत्य वाक्य,

४. निर्वेद—शम या शान्ति,

५. अविवित्सा—अलोभ या अलिप्सा।

अथवा किसी वस्तु को पाने की इच्छा न करना और अपने को आकिंचन्य मनोवृत्ति में डाल लेना।[1]

कहानी है कि एक बार मङ्कि ऋषि ने खेती करने के लिए दो बैल खरीदे। उन्हे देख कर मार्ग में बैठा हुआ ऊंट भडक गया और उन्हें टाँग कर भाग निकला। इससे विलख कर मङ्कि ने कहा—शुद्धं हि दैवमेवेदमतो नैवास्ति पौरुषम्। केवल दैव ही सब कुछ है, हठपूर्वक किए पुरुषार्थ से कोई लाभ नही।

जो सुख चाहे, उसे निर्वेद की साधना करनी चाहिए। जिसके पास निर्वेद है, वह सुख से सोता है। अर्थ-साधन के प्रति निराश व्यक्ति और निर्वेद-प्राप्त व्यक्ति सुख से सोता है।[2]

जनक के राजमहल से वन की ओर प्रस्थान करते हुए शुकदेव ने ठीक कहा था। जो सब कामो को प्राप्त कर ले या जो सब कामो को छोड दे, उन दोनो में त्यागी बडा है। जितने लोभ है, उनका पार पहले कोई नही पा सका। शरीर के रहते मन्द तुरुष की तृष्णा बढती रहती है। सब विवित्सा या लिप्साओ से मनको हटाकर शम और निर्वेद में लगाना चाहिए। कितनी ही बार लिप्सा ने तुझे ठगा है, फिर भी निर्वेद नही प्राप्त करता ?

---

१ सर्वसाम्यमनायास सत्यवाक्यं भ भारत।
निर्वेदश्चाविवित्सा च यस्य स्यात्स सुखी नरः॥ २॥
एतान्येव पदान्याहुः पञ्च वृद्धाः प्रशान्तये।
एष स्वर्गश्च धर्मश्च सुखं चानुत्तमं सताम्॥ ३॥

२ तस्मान्निर्वेद एवेह गन्तव्यः सुखमीप्सिता।
सुखं स्वपिति निर्विण्णोनिराशश्चार्थसाधने॥१४॥

व्यक्ति को वित्तकामुक होकर लोभयुक्त नही होना चाहिए। पूर्व के और बाद के लोग कामनाओं का अन्त नही पा सके।[1] मै सब कार्यों का त्याग करके अब प्रतिबुद्ध हो गया हूं। हे काम, मुझे ज्ञात है कि तुम संकल्प से उगते हो। मै अब संकल्प न करूंगा, तो तुम्हारा मूल नष्ट हो जायगा। हे काम, पाताल के समान तुम्हारा गड्ढा भरना कठिन है। अब मै क्षमाहीन को क्षमा करूंगा और हिंसको के प्रति अहिंसा वरतूंगा। द्वेषरहित होकर अप्रियों के लिए भी प्रिय वचन कहूँगा। अब मैने निर्वेद, निर्वृति, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा एवं सर्वभूतदया इन नियमो की शरण ले ली है।[2]

---

१. अहो सम्यक्शुकेनोक्तं सर्वत परिमुच्यता।
प्रतिष्ठता महारण्यं जनकस्य निवेशनात् ॥१५॥
यः कामान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैनान्केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥१६॥
नान्तं सर्वविवित्सानां गतपूर्वोऽस्ति कश्चन।
शरीरे जीविते चैव तृष्णा मन्दस्य वर्धते ॥१७॥
निवर्तस्व विवित्साभ्यः शाम्यनिर्विद्य मामक।
असकृच्चासि निकृतो न च निर्विद्यसे तनो ॥१८॥
मा मां योजय लोभेन वृथा त्वं वित्तकामुक ॥१९॥
न पूर्वे नापरे जातु कामानामन्तमाप्नुवान्।
त्यक्त्वा सर्वसमारम्भान्प्रति बुद्धोऽस्मि जागृमि ॥२२॥

२. काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि ॥२५॥

यही श्लोक बुद्ध के मुख से धम्मपद में कहलाया गया है। दे० तण्हावग्ग, धम्मपद ३३४-३५९।

पातालमिव दुष्पूरो मां दुःखैर्योक्तुमिच्छसि।
नाहमद्य समावेष्टुं शक्यः काम पुनस्त्वया ॥२९॥
क्षमिष्येऽक्षममाणानां न हिंसिष्ये च हिंसितः।

इससे स्पष्ट है कि इन सबका अन्तर्भाव मंखलि के निर्वेदमूलक धर्म में था। इन्हें ब्रह्मप्राप्ति का लक्षण माना जाता था।

अब मैं शान्त भाव से निर्वाण-सुख को प्राप्त हो गया हूँ। लोक में जितने काम सुख है, वे तृष्णाक्षय से उत्पन्न होने वाले सुख की सोलहवी कला के बराबर भी नही है। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, अहकार इन छह को वश में करके मेरा मन अब ऐसे सुखी है जैसे कोई यक्ष अपनी अमृत से घिरी ब्रह्मपुरी में सुखी होता है।

इस प्रकार के विचारो से मङ्कि को निर्वेद प्राप्त हुआ और सब कामो के त्याग से उसे ब्रह्म सुख प्राप्त हुआ। इस विषय में जनक का अनुभव भी प्रसिद्ध था—'मेरे पास यद्यपि अनन्त धन है, फिर भी मै अकिंचन हू। मेरा विश्वास है कि सारी मिथिला के भस्म हो जाने पर भी मेरा कुछ नही बिगडता।'

इस विषय में राजा नहुप के गुरु बोध्य ऋषि की शिक्षा का भी उल्लेख किया जाता था। महाभारत के अनुसार धृतराष्ट्र नियतिवादी थे और मत्स्य पुराण में नहुपपुत्र ययाति को नियतिवादी कहा गया है (मत्स्य पु० ४२।४, १२)। अत. यह समीचीन है कि ययाति ने अपने पिता के राजकुल में ही नियतिवाद की व्याख्या सुनी होगी। इसका निष्कर्ष यह ज्ञात होता है कि मखलि गोसाल के समय के बहुत पहले से दिष्टिवादी दर्शन की परम्परा चली आती थी, जिसे मखलि ने बहुत कुछ पल्लवित किया।

नहुष ने प्रश्न किया, "निर्वेद से शान्ति मिलती है, शान्ति से प्रज्ञा तृप्त हो जाती है, इसलिए शम का उपदेश दीजिये।" बोध्य ने कहा, "मेरा यही नियम है कि मै किसी को कुछ आज्ञा नही देता, किन्तु मेरा जीवन ही उपदेश है। मैंने अपने लिए छह गुरु बनाये—पिङ्गला वेश्या, कुरई पक्षी, सर्प, सारङ्ग, इपुकार तथा धान कूटने वाली कुमारी। इनके कर्म को देख-कर मुझे जो सीखना था मैंने सीख लिया।"

इस प्रकार मङ्कि ऋपि, शुकदेव और बोध्य के दृष्टान्तो से नियतिवाद नामक दिट्ठि या दार्शनिक सिद्धान्त का विवेचन किया गया है।

इन मतों का संयोग

श्वेताश्वतर उपनिषद् और मोक्षधर्म पर्व मे इस प्रकार के अनेक उपदेष्टा आचार्य हैं। उनके लिए कई संज्ञाएं थी, आचार्य, ऋषि, विप्र, ब्राह्मण, गणिन्, गणाचार्य, तपस्वी, प्राज्ञ, आदि। उनके मतो के लिए भी कई शब्द प्रयुक्त होते थे, जैसे मति, वाद, कारण, बुद्धि, प्रज्ञा, विद्या, मत, दिट्ठि या दृष्टि या धर्म, उपदेश, व्रत, आदि। उन सबका एक समान उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति था, किन्तु उसके मार्ग अलग-अलग थे। परम गति, महत सुख, दिव्य सुख, अमृत सुख, परिनिर्वाण, परम शान्ति ये सब समानार्थक हैं।

तीसरी उल्लेखनीय बात यह थी कि इन आचार्यों के जो विभिन्न मत थे, वे एकांगी न थे। इसका तात्पर्य यह है कि एक आचार्य अपने मत विशेप का प्रतिपादन करते हुए, दूसरे कई अवान्तर मतो को भी स्वीकार करता था और उनका उपदेश देता था। इस प्रकार का आदान-प्रदान कई मतो के संयोग से प्राप्त होता था। इस प्रकार उस युग मे दार्शनिक मतों का एक ताना-वाना ही बुन गया था। सैकड़ो आचार्य और उनकी शताधिक मति या दिट्ठियां थी। -वौद्ध साहित्य मे इसके लिए ब्रह्मजाल शब्द प्रयुक्त हुआ। वहां ब्रह्म का अर्थ, ज्ञान, मत या मोक्षधर्म है। ब्रह्मजाल सुत्त मे अनेक दिट्ठियो का उल्लेख है। ऐसे ही उत्तराध्ययन सूत्र में २०० से अधिक दिट्ठियो का उल्लेख आया है।

यदि मोक्षधर्म पर्व की इस सामग्री का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय, तो हमे उनका परिचय प्राप्त हो सकता है। उदाहरण के लिए बुद्ध ने कर्म, प्रज्ञा, तृष्णाक्षय, सुख-दु ख, जन्म-मृत्यु आदि कितनी ही दिट्ठियो का उपदेश दिया है, जो उनके धर्म का अग बन गई थी।

इन दिट्ठियों का सबसे स्पष्ट उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् मे पाया जाता है। वह मोक्षधर्म पर्व की सामग्री को समझने की सबसे अच्छी कुंजी है। उसके अनुसार ये विभिन्न दृष्टिकोण इस प्रकार थे—

१. काल
२. लोकपर्याय
३ स्वभाव
४ नियति
५. यदृच्छा
६. भूत
७. योनि
८ पुरुष
९ (योनि और पुरुष का) सयोग
१०. आत्म या जीव
११. देव
१२ शक्ति और प्रकृति और उसके गुण।

यदि इस सूची का मोक्षधर्म की सामग्री से मिलान किया जाय, तो प्राचीन भारतीय दर्शन का एक विलुप्त दर्शन हाथ लग जाता है। उपनिषद् के लेखक ने स्वय ही कह दिया है कि इन मतो का परस्पर संयोग भी उस युग के दर्शनिक चिन्तन की एक सच्चाई थी। इसकी स्पष्ट व्याख्या मोक्षधर्म से प्राप्त होती है।

उदाहरण के लिए कालवाद के अन्तर्गत और भी कई मत थे जिनका परस्पर समझौता हुआ था। कालवाद के मुख्य आचार्य व्यास जी थे। किन्तु उनके समान धर्म के आचार्य और उनके अनुयायी और भी कई अवान्तर मतो को स्वीकार करते थे, जैसे लोकपर्याय, सुख-दु खपर्याय, तृष्णाक्षय, पूर्व देहकृत कर्म, इन्द्रिय दमन, ममत्व परित्याग, हर्ष, शोक, भयाभय, प्रियाप्रिय का परित्याग भी एक दिट्ठी ही थी। कर्मणा, मनसा, वाचा पाप का परित्याग, पिंगला की शान्ति, बुद्धि का दृष्टान्त (जिसके उदाहरण स्वरूप पिंगला का अनुभव इसी दिट्ठि में स्वीकार किया गया), अकामता, नैराश्यवाद, या नैराश्यमति। इस प्रकार कई-कई हेतु-मत प्रभासित तैरते हुए एक एक वाद या आचार्योपदेश के साथ जुड जाते थे। इस स्थिति का उल्लेख ऊपर अध्याय १६८ की व्याख्या में आया है। और अन्य अध्यायो में भी यह चरितार्थ होती है। इस प्रकार से मोक्षधर्म का अध्ययन शुष्क या नीरस विषय नही रह जाता है। किन्तु इसके द्वारा हम प्राचीन आश्रमो के सरस वातावरण मे पहुच जाते है, जहा आचार्य वक्ता और उनके अनेक शिष्य श्रोता थे।

अध्याय १६९ मे कालवाद का विवेचन है। व्यास जी इस मत के प्रमुख उपदेष्टा थे। प्रज्ञादर्शन से इस दर्शन का मेल था। प्राज्ञ वह था, जो मोक्षधर्म में कुशल हो। अर्थात्, उसके अर्थो की स्पष्ट व्याख्या कर सके। प्रज्ञा दर्शन को तो प्रायः सभी आचार्य मानते थे। अध्याय १७३ में प्रज्ञा की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। लोकतत्त्व या लोक विधान या लोक धर्म का सर्वव्यापी आधार प्रज्ञा या समझ-बूझ है, जो जन-जन में पाई जाती है। इसी वाद के अन्तर्गत कुछ अवान्तर मत इस प्रकार थे। जन्म के साथ जरा और व्याधि तथा मृत्यु का संयोग, जीवन में मृत्यु के भय से बचने के लिए अमृत प्राप्ति की आवश्यकता, चार आश्रमों के अनुसार जीवन, दीर्घसूत्रता का त्याग एवं तात्कालिक कर्म संपादन, मृत्यु का अनिवार्य आक्रमण, देह की देवगोष्ठ के रूप में कल्पना, अरण्य निवास या मुनिवृत्ति, जीवन के प्रति उदासीनता, सत्य के मार्ग से अमृत प्राप्ति, शान्ति या शम का दृष्टिकोण, ब्रह्मयज्ञ निरत मुनिजीवन (तु० ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः), त्याग और आत्मनिष्ठ धर्म, क्रिया या कर्म का उपरम, इत्यादि।

अध्याय १७० मे जिस आकिञ्चन्य या मोक्ष मार्ग का वर्णन किया गया है, उसकी व्याख्या बहुत आकर्षक थी। उसके पहलू या कोण और कई अविरोधी दिष्टियो से मिले हुए थे, जैसे आकिञ्चन्यवादी आचार्य सुख-दुःख-पर्याय, अकामता, या निःस्पृहता या अनीहा का मत स्वीकार करते थे। उनका कहना था कि आकिञ्चन्य से मृत्यु का निराकरण होता है। त्याग द्वारा परम सुख या मोक्ष की प्राप्ति संभव है (इसी की एक धारा अध्याय १६८ के लोकपर्यायवाद मे है)। अकिञ्चनत्व की चरम सीमा दिगम्बर व्रत मे देखी जाती है।

अध्याय १७१ मे जिस दार्शनिक मत का वर्णन है, वह श्वेताश्वतर सूची का नियतिवाद था। इसे दैष्टिक मत भी कहते थे। उसमे कई अवान्तर मतो का अन्तर्भाव हो गया था, जैसे शुद्ध दैववाद या भाग्यवाद, पौरुष या पुरुषार्थ का निराकरण, निर्वेद का दृष्टिकोण, अलोभी या अलिप्सा, धनेहा का परित्याग, अनासक्तिभाव, अकामता, सुख-दुःख-पर्याय, यदृच्छा-

वाद, निर्वृत्ति, तृप्ति, शान्ति या शम, सत्य, क्षमा और सर्वभूतदया, केवल सुख (परिनिर्वाण), तृष्णाक्षय सुख, तु० लोकपर्याय (अ० १६८)। मकि के निर्वेद सिद्धान्त और जनक के आकिञ्चन्य सिद्धान्त को नियतिवाद का अग माना गया। बोघ्य ऋषि का निर्वेद के विषय में जो मत था वह इस दिट्ठी का अग बन गया। बोघ्य ऋषि की प्रज्ञा या दिट्ठी सममूलक थी और उसमें निर्वेद की भी स्वीकृति थी। बोघ्य ऋषि के छह गुरु और इसके दृष्टान्त भी उल्लेखनीय हैं।

स्वभाववाद

उपनिषद् की मत सूची में स्वभाववाद का उल्लेख है, जिसका विशद वर्णन मोक्षधर्म, अध्याय १७२ में आया है। इनके अनुसार संयोग और वियोग, सचय और विनाश, ये स्वभाव से होते है, जैसे काल और लोक अपने स्वभाव से है। स्वभाव की ही व्याख्या कालपर्याय और लोकपर्याय मे कही गई है। भूतवाद और यदृच्छावाद का भी इस मत से घनिष्ठ संबध था। पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार भूतो से यह भौतिक विश्व और शरीर बना है। इनके अतिरिक्त यहा जीव जैसा चैतन्य तत्त्व नही है। स्वभाववादी भौतिकवादी जान पडते है। यदृच्छावाद की झलक भी इस मत मे थी। इस विश्व में कोई कार्य-करण का नियम नही है। अकारण जो स्वेच्छा से घटित हो जाय वही ठीक है।

इस दिट्ठि का सबसे सटीक दृष्टान्त आजगर व्रत के रूप में प्रचलित था। इसके ११ श्लोक यहाँ दिये है, जिसे प्राचीन भारत का दासमलूका गीत कहा जा सकता है। इसे आजगरव्रतचरित, अर्थात् अजगर जैसी वृत्ति का रहन-सहन कहा गया है। स्वभाववाद के अन्तर्गत आजगरी दिट्ठी के कुछ लक्षण इस प्रकार थे। इसमें यदृच्छा से प्राप्त अल्प या बहुत भोजन से सतोष, पर्यङ्क या भूमि के शयन में समत्व, शाण या क्षौम वस्त्र की समानता, प्रासाद और अरण्यवास मे समत्व, भय, कषाय, लोक-मोह से रहित होना और अशोक वृत्ति युक्त चित्त भी उचित था। हृदय के सुख-दुःख और धन-तृष्णा का परित्याग, सुख, असुख, अनर्थ, अर्थलाभ, रति, अरति,

मरण और जीवन ये सभी स्वभाव या विधि-विधान के अटल नियम से घटित होते हैं। भय, राग, मोह, दर्प से रहित होना, धृति, बुद्धि और शाति से युक्त होना, अनियत शयनासन, दम, नियम, व्रत, सत्य, शौच, अनियत मन का संयम, प्रिय सुख की दुर्लभता और अनित्यता, रोष और तृष्णा का त्याग, स्व-पर मत का विचार—ये इसके अवान्तर मत हैं।

: ८६ :

अवान्तर दृष्टियां

प्रज्ञादर्शन

इन मतो मे प्रज्ञादर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उद्योगपर्व मे विदुर-नीति प्रज्ञादर्शन का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अन्यत्र भी उसका छिट-फुट वर्णन आया है। वस्तुत. ये सभी आचार प्राज्ञ या धीर, विचरण या कुशल के कहे जाते थे। अध्याय १७३ मे युधिष्ठिर ने स्पष्ट प्रश्न किया कि बन्धु-बान्धव, कर्म, धन, और प्रज्ञा इन सब मे मनुष्य की प्रतिष्ठा का कारण क्या है ? जैसा स्पष्ट प्रश्न है, वैसा ही उत्तर भी दिया गया है—

प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां प्रज्ञा लाभः परो मतः।
प्रज्ञा नैःश्रेयसी लोके प्रज्ञा स्वर्गो मतः सताम् ॥ (१७३।१)

प्रज्ञा से लोक मे भूतों को सम्मान मिलता है। प्रज्ञा परम लाभ माना गया है। प्रज्ञा मोक्षदायिनी है। जब वलि का ऐश्वर्य जाता रहा, तब प्रज्ञा ने ही उसका साथ दिया। प्रह्लाद, नमुचि और मंकि प्रज्ञा के दृष्टान्त माने जाते थे।[1] इससे सिद्ध है कि मंकि का नियतिवाद और प्रज्ञा-दर्शन इन दोनो में घनिष्ठ मेल था। जैसा हमने ऊपर कहा, प्रज्ञादर्शन का

---

१. प्रज्ञया प्रापितार्थो हि बलिरैश्वर्यसंक्षये।
प्रह्लादो नमुचिर्मङ्किस्तस्याः किं विद्यते परम् ॥१७३।२॥

समझौता अन्य सब मतो से हो जाता है। प्रज्ञावादी आचार्य मनुष्य योनि को श्रेष्ठ मानते थे। अध्याय १७३ से स्पष्ट है कि प्रज्ञावाद और योनिवाद इन दोनो का संयोग था। इन्द्र ने शृगाल का रूप रखकर इसी मत का प्रतिपादन किया कि सब योनियो में मनुष्य योनि उत्तम है। इस मत का भी कोई विरोधी न था। योनिवाद कर पृथक् उल्लेख श्वेताश्वतर की सूची मे किया गया है। संभवत शृगालोवाद सुत्तन्त का भी यही अभिप्राय था। सखपाल जातक में नागराज सखपाल ने भी मनुष्य योनि की प्रशंसा की है और काम-भोगो को अशाश्वत बताया है। उसका यह व्रत आजगर-व्रत से मिलता है।

प्रज्ञादर्शन के अन्तर्गत जीवन में धनोपार्जन का महत्त्व माना जाता था। धन के बिना सासारिक स्थिति नही बनती। अत. ससारिणी प्रज्ञा वही है, जो सत्य के मार्ग से उचित धन-संग्रह करे। इसी दृष्टि का आवश्यक परिणाम पाणिवाद मत था। देव के दी हुई दस अंगुलिया कर्म करने के लिए है। कहा है—

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणय ।
पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य वै ।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते ।
अपाणित्वाद्वय ब्रह्मन् कण्टकान्नोद्धरामहे ॥ (१७३।१०-११)

इस लोक में जिनके हाथ है, उनके पास सफलता है। जैसे तुम धन चाहते हो, वैसे मै उन्हें चाहता हूं जो हाथ वाले है। पाणिलाभ से बढकर कोई लाभ नही है। बिना हाथ के तो चुभा हुआ कांटा भी नही निकाला जा सकता।

प्रिय वस्तु का लाभ पाणिवाद का अंग था और इस दर्शन में तृष्णा का भी उचित स्थान था। ये आचार्य सुख-दुःखपर्याय को भी मानते थे। इन्द्रिय सयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्र, दम, दान, स्पर्धिष्ठा या स्पर्धा का अभाव यजन, याजन ये एक ही मत के विशेष गुण थे।

इस मत के अन्तर्गत पाप योनि, पुण्य योनि, शृगाल योनि, मनुष्य, योनि, विप्र योनि आदि अनेक योनियों के तारतम्य पर विचार किया जाता था।

इनसे यहां न कोई सुख है न दुःख है। जन्म से प्राप्त योनि दुःख-सुख का कारण है। मनुष्य धनी होकर राज्य चाहते है, राजा होकर देवत्व चाहते है और देवता बन कर इन्द्र का पद चाहने लगते है। सुख-दुःख जो आ पडे उसे सहना चाहिए। उसकी शिकायत करना ठीक नही है। इन्द्रियो को ऐसे रोको जैसे पक्षी को पिजडे मे। इन्द्रियों को वश मे करना ही सबसे बडी प्रज्ञा है।

पुराकृत कर्म की महिमा

पूर्व जन्म मे किये हुए कर्म इस जन्म में फल देते है, सुख-दु ख उन्ही के परिणाम हैं। इसे ही लोक-पर्याय-विधान कहते है। पौर्वदेहिक कर्मों से सुख-दुःख का भोग मिलता है। यह भी दृढ मान्यता थी कि पूर्व कर्मो का संशोधन अनशन या उपवास से किया जा सकता है—

समुन्नमग्रतो वस्त्रं पश्चाच्छुध्यति कर्मणा।
उपवासैः प्रतप्तानां दीर्घं सुखमनन्तकम्॥ (१७४।१७)

उपवास ही ऐसा तप है, जिससे पाप कर्मो का मैल धुल जाता है।

: ८७ :

सृष्टि और प्रलय

अध्याय १७५ मे सृष्टि और प्रलय का प्रश्न उठाया गया है। लोको का निर्माण पद्मसृष्टि से हुआ है। इसी पुष्पक पर बैठकर ब्रह्मा महत् तत्त्व, अहंकार और पंचभूतों की रचना करते है। यही वैदिक मत है। इसी प्रसंग में विराट रूप का भी वर्णन किया गया है। इसका आरम्भ ऋग्वेद के पुरुष सूक्त से हुआ है और कालान्तर के साहित्य में अनेक प्रकार से

इसका वर्णन पाया जाता है। इसी मत में भूपद्म की कर्णिका से मेरु का विकास बताया गया है, जिसका वर्णन पुराणो में पल्लवित किया गया है। उसके चार तटान्तो से चतुर्विध सृष्टि का जन्म हुआ।

अध्याय १७६ में पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाच तत्त्वो से विश्व की रचना का वर्णन है। इसके मूल में वैदिक समुद्र या सलिलवाद या जलसृष्टि का मत था। इसी से अग्नि, वायु, आकाश और पृथिवी का जन्म हुआ। मनु ने इसी को "अप एव ससर्जादौ" कहा है। रस, गन्ध और स्नेह की योनि तथा प्राणियों की योनि भूमि है।

इस पर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि वृक्षो के स्थावर शरीर में जीव है या नही। इसका समाधान यह कहकर किया गया है कि वृक्षो के शरीर में पाचो इन्द्रियो और चैतन्य का विकास होता है। प्राचीन दर्शन का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त था। वृक्षो में जीव है, इसका स्पष्ट उल्लेख यहा हुआ है। वृक्ष देखते, सुनते, सास लेते और खाते-पीते है और चेतना के कारण पञ्च तत्त्वो के प्रभावो से प्रभावित होते हैं। उनके कोशो मे जीवनी शक्ति का स्पन्दन है। वे सुख-दु ख का भी ग्रहण करते है। अतः उनमे जीव का होना निश्चित है—

ग्रहणात् सुखदु खस्य छिन्नस्य च विरोहणात्।
जीवं पश्यासि वृक्षाणामचैतन्य न विद्यते ॥ (१७७।१७)

वे आहार लेकर वृद्धि को प्राप्त होते है। उनमें पुष्प, फल और बीज का भी नियम है। उनके शरीर मे त्वक्, मास, अस्थिया, मज्जा और स्नायु इन सबके समूह रूप वृक्षो में तेज, जठराग्नि, क्रोध, चक्षु, ऊष्मा भी होती है। श्रोत्र, घ्राण, मुख, हृदय, कोष्ठ ये वृक्षो मे भी है, जो आकाश के अश है। श्लेष्मा, कफ, पित्त, स्वेद, वसा, शोणित और जल ये वृक्षो के शरीर मे भी होते हैं।

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पञ्च प्राणो के भेद वृक्षो के शरीर में भी काम करते है। इष्ट, अनिष्ट, मधुर, कटु, स्निग्ध, रूक्ष, निर्हारी या बाहर निकालने वाला, संहत (या भीतर रहने वाला), विशद (स्पष्ट या उत्कट)

यो नव प्रकार के गन्धो की सुगन्धि वृक्षों में रहती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन पञ्च तन्मात्राओं का भी वृक्षो में निवास है। अनेक आचार्य इनमे मधुर, लवण, तिक्त, कषाय, अम्ल, कटु, इन रसों का भी अस्तित्व मानते हैं। इस प्रकार जिन वारह ज्योतियो का अनुभव वृक्षो को होता है, वे हैं—शुक्ल, कृष्ण, रक्त, नील, पीत, अरुण, ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चौरस, अणु, वृत्तवान्। जिन बारह गुणों का अनुभव वृक्षो को होता है, वे ये हैं—कठोर, चिक्कन, श्लक्ष्ण, पिच्छल, मृदु, दारुण, उष्ण, शीत, सुख, दुःख, स्निग्ध तथा विशद। आकाश का गुण शब्द यद्यपि एक है, किन्तु उसके भी सप्त स्वरादि अनेक भेद है। उन सवका परिचय वृक्षो को होता है।

वनस्पति जगत् के चैतन्य के विपय मे इतना विस्पष्ट और साहस-पूर्ण कथन अन्यत्र दुर्लभ है(श्लो० १०-३९)। इस मत के प्रतिपादक आचार्य स्थावर-जंगम विश्व मे जीव या चैतन्य का विकास मानते थे। विराट् विश्व के प्रति यह दृष्टिकोण अतिशय अहिंसा के रूप मे विकसित हुआ, जिसे हम जैन धर्म मे पाते है।

अध्याय १७८ मे शारीरिक ऊष्मा के मत का प्रतिपादन है, जो पञ्च प्राणो के रूप मे पूरे शरीर मे कार्य करती है। वस्तुत· यही प्राचीन वैश्वानर अग्नि थी। वैश्वानर विद्या का आरम्भ ऋग्वेद से ही हो गया था। प्राण और अपान के घर्षण से उत्पन्न ऊष्मा को अग्नि या वैश्वानर कहते थे। आमाशय मे अन्न के पाचन का श्रेय इसी वैश्वानर अग्नि को है। इसे जठराग्नि भी कहा जाता है। गीता मे वैश्वानर अग्नि को भगवान् का रूप कहा गया है—अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

प्राणापान समायुक्तं पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।

यम ने नचिकेता को इसी वैश्वानर विद्या का उपदेश दिया था।

जीवाक्षेप

अध्याय १७९ मे यह प्रश्न उठा या गया है कि पञ्च तत्त्वो के अतिरिक्त जीव या आत्मा का पृथक् अस्तित्व है कि नही। इसका संक्षिप्त उत्तर है

कि जैसे वनस्पति जगत् में बीज से बीज का जन्म होता है, ऐसे ही जीव से जीव की उत्पत्ति का नियम है।

अध्याय १८० मे जीव-लक्षण शीर्षक के अन्तर्गत कहा गया है कि शरीर के नाश से जीव का नाश नही होता। जैसे ईंधन के जल जाने पर ऊपर से यह जान पडता है कि अग्नि का नाश हो गया, किन्तु सत्य यह है कि अग्नि का ताप या ऊष्मा आकाश में व्याप्त हो जाता है। ऐसे ही जीव भी आकाश मे स्थित रहता है।

अजित केशकम्बलि का यह मत था कि यह भौतिक और अचेतन शरीर पृथिवी, जल, तेज, वायु, इन चार तत्त्वो से बन जाता है। लोगो को यह भूतवादी मत समीचीन नही जान पडा और उन्हें इससे पूरा सतोष न हुआ। तब प्रक्रुद्ध कात्यायन ने एक नये मत का प्रतिपादन किया। उनका कहना था कि भौतिक तत्त्वो के अतिरिक्त एक जीव भी है, जो सुख-दु ख का अनुभव करता है। यह मत सप्तकायवाद के नाम से प्रसिद्ध था। श्वेताश्वतर उपनिषद् की सूची मे इसका स्पष्ट उल्लेख "आत्माऽप्य-निशा सुखदु खहेतोः," इन शब्दो में आया है। इसका ही विशद वर्णन अ० १८० में है। इसमें पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष के तर्कों का उल्लेख करते हुए पञ्च तत्त्व, जिनमे आकाश भी सम्मिलित है, जीवात्मा और दु.ख-सुख का परिगणन किया गया है।

इस मत मे दु ख और सुख को इतना अधिक महत्त्व दिया गया कि यदि चित्त दु.खी हो, तो शरीर और मानस रोगो का अनुभव न होने से जीव भी व्यर्थ हो जाता है।[1]

नास्तिक दर्शन का स्पर्श करने वाले आचार्य प्रक्रुद्ध कात्यायन ने दु ख-सुख को जो इतना गौरव दिया, वह आस्तिक वादियो को कुछ महँगा सौदा जान पडता था। अत उन्होंने दु.ख-सुख को मानते हुए भी जीव या आत्मा की सत्ता पर ही अधिक बल दिया—

---

१ महर्षे मनसि व्यग्रे तस्माज्जीवो निरर्थकः। (१८०।१५)

पञ्चात्मके पञ्चगुणप्रदर्शी स सर्वगात्रानुगतोऽन्तरात्मा।
स वेत्ति दुःखानि सुखानि चात्र, तद्विप्रयोगात्तु न वेत्ति देहः॥
(१८०।२०)

ज्ञात होता है कि भृगु-भरद्वाज के इस संवाद मे भृगु आस्तिक और भरद्वाज नास्तिक दिट्टि के प्रतिनिधि है। भृगु ने शरीर मे आत्मा के अस्तित्व पर बल दिया और उसे ही क्षेत्रज्ञ कहा। शरीर तो केवल क्षेत्र मात्र है। आप उसमे चार भूत मानें या पाच कोई विशेष भेद नही पडता, क्योकि वह अचेतन ही रहता है। अतः उसमे क्षेत्रज्ञ की सत्ता से ही विचित्रता आती है। वही चेतना का केन्द्र बनता है, जैसे कमल के पत्ते पर बूद होती है।[1]

सत्त्व, रज, तम, ये प्रकृति के तत्त्व है, लेकिन जीव को ही प्रभावित करते है। चेतना और चेष्टा जीव के ही गुण है।[2]

देह के नष्ट होने पर जीव का नाश नही होता। अज्ञानी इसे व्यर्थ ही मरा हुआ कहते है। जीव दूसरी देह मे चला मात्र जाता है। पञ्चभूतो के पृथक् हो जाने से शरीर-भेद देखा जाता है। तत्त्वदर्शी सूक्ष्म बुद्धि से इसे देखते है। बुद्धिमान विशुद्ध चित्त से आत्मा का आत्मा मे दर्शन करते है। चित्त के प्रसाद से ही शुभाशुभ कर्मो को छोडकर अक्षय सुख या मोक्ष का अनुभव करते है। जीव शरीर के भीतर मानस अग्नि की संज्ञा है।[3]

---

१. क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं लोकहितात्मकम्।
तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि जीवगुणानिमान॥ (१८०।२४)

२. सचेतनं जीवगुणं वदन्ति स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम्।
तत. परं क्षेत्रविदं वदन्ति प्रावर्तयद्यो भुवनानि सप्त॥
(१८०।२५)

३. मानसोऽग्निपु शरीरे जीव इत्यभिधीयते।
सृष्टि प्रजापतेरेषा भूताध्यात्मविनिश्चये॥ (१८०।३०)

यहाँ भौतिक और आध्यात्मिक दो दृष्टियो के तारतम्य का विनिश्चय पाया जाता है। (अ० १८०)

चार वर्णों के विशेष प्रकार

अध्याय १८१ में कहा गया है कि ब्रह्मा ने चार वर्णों के चार रंग बनाये। श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण।[1] इस पर बुद्धिपूर्वक प्रश्न उठाया गया कि इससे तो वर्णो का सकर मानना पडेगा क्योकि त्वचा के रगो का कोई नियम नही है। सब रग सब वर्णो में देखे जाते है।[2] इसके उत्तर में यही समाधान दिया गया है कि रगो का आग्रह न करके कर्मो का आग्रह करना अच्छा है—

न विशेषोऽस्ति वर्णाना सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्ट हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥ (१८१।१०)

इस शका का एक बढिया समाधान इस प्रकार दिया गया है कि वर्णो के विभाग का कोई विनिश्चय नही है। यह सारा जगत् ब्रह्मा की सृष्टि है। काम, क्रोध, लाभ, मोह सबमें एक समान पाये जाते है। शरीर के मल और रस, रक्त आदि धातुएं भी सब वर्णो मे एक जैसी होती है। अत उनके आधार पर वर्णो का निश्चय नही (सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्)।

पहले सभी ब्राह्मण थे, पर कर्मानुसार वण में विभक्त हो गये। जो ब्राह्मण तीक्ष्ण थे और काम, क्रोध तथा साहस के वश में हो गये, वे क्षत्रिय कहलाने लगे। जिनका मन गो-सेवा और कृपि मे लग गया, वे वैश्य हो गये। जो हिंसा, अनृत, लुब्धक वृत्ति और कई तरह के नीच धन्धे करने लगे और शौच के नियमो से भ्रष्ट हो गये, वे मूल में ब्राह्मण रहते हुए भी

---

१ ब्राह्मणानां सितो वर्ण क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्ण. शूद्राणामसितस्तथा ॥ (१८१।५)

२. चातुर्वण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभज्यते।
सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसंकरः ॥ (१८१।६)

शूद्र बन गये।[1]

या जो मूल मे ब्राह्मण थे, कई वर्णों में बंट गये। पर उनके लिए भी धर्म, यज्ञ आदि कर्मों का प्रतिषेध नही है। इन चारों वर्णों के लिए एक मात्र देवी ब्रह्मा की पुत्री सरस्वती है—वर्णाश्चत्वार एते हि येषां ब्राह्मी सरस्वती। (१८१।१५)।

चारो वर्ण लोभ से अपना ज्ञान न खो बैठें। ब्राह्मण धर्म-तन्त्र मे स्थित रहे, तप को धारण करें, ब्रह्म या वेद को धारण करें, व्रत और नियमो का पालन करें, तो उनका ब्राह्मणत्व बना रहेगा।

इसमें जितनी शर्तें है, वे जैसे किसी अर्वाचीन समाजशास्त्री के द्वारा दी गई है। इसमें कही भी ब्रह्मा के मुंह, भुजाओ, जंघा और पैरों से चार वर्णो की उत्पत्ति का उल्लेख नही है। यहा नैतिक गुणो और कर्मों को वर्ण-भेद का विषय माना है। आरम्भ में सभी ब्राह्मण थे, पर पीछे उन्ही में से बहुत-सी जातियां बन गई। उनका ज्ञान-विज्ञान नष्ट हो गया एवं आचार चेष्टाओ में स्वच्छन्दता आ गई।

ब्रह्मा की मानसी सृष्टि में, जिसमें ऋषियों के तप का योग था, सब लोग धर्मतन्त्र परायण थे। पर सदा के लिए इस स्थिति का निर्वाह नहीं हो सका।

लेखक को ऊपर के स्फुट तर्कों से पूरा सतोष न हुआ। उसने अध्याय १८२ मे अपनी पहली युक्तियो का खण्डन न करते हुए चारो वर्णों के आदर्शो का स्फुट विवेचन किया।

---

१ कामभग प्रियास्तीक्ष्णा क्रोधनाः प्रियसाहसा।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजा' क्षत्रतां गता. ॥११॥
गोपु वृत्तिं समाधाय पीता' कृष्युपजीविन.।
स्वधर्मं नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गता. ॥१२॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥१३॥

अध्याय १८३ में सत्य की बहुत ही सुन्दर व्याख्या दी गई है। सत्य ब्रह्म, सत्य तप, और सत्य ही प्रजाकर्त्ता है। सत्य, स्वर्ग और अनृत नरक है (स्वर्गं प्रकाश इत्याहु नरकं तम एवं च)। जिन्हे अनृत रूप तम ग्रस लेता है, वे सत्य रूप प्रकाश नही देख पाते।

लोक की ऐसी वृत्ति है कि यहा सत्य और अनृत, प्रकाश और अन्धकार, धर्म और अधर्म तथा सुख और दु ख दोनो की सत्ता है। मनुष्य को चाहिए कि अपनी बुद्धि मे किसी एक को चुने।[1]

सत्यानृत को इस व्याख्या मे सुख-दु ख की अनित्यता का यह सिद्धान्त जोड दिया गया था, जो लोकपर्याय का अवान्तर मत था।

विचित्र है कि इस अध्याय मे दु ख और सुख का विवेचन गद्य मे दिया गया है। लगता है ससार में शारीरिक और मानसिक दु खो की स्पष्ट व्याख्या का गद्याश भाग जैसे बौद्ध स्रोत से लिया गया था। अन्त मे सुख-दु ख के सिद्धान्त को स्वर्ग और नरक के साथ मिलाया गया है। स्वर्ग में सुख और नरक में दु ख है। इस निष्कर्ष को ब्राह्मण और बौद्ध दोनो मानते थे। सुख-दु ख का समत्व परम पद या मोक्ष है।

इसी मत से मिला हुआ लोक सृष्टि का वैदिक मत था, जिसमें माता पृथिवी और पिता द्युलोक है। इन दोनो का जो शुक्र-शोणित संयोग है, वही तेज संतान का रूप धारण करता है—

पृथिवी सर्वभूतानां जनित्री तद्विधा स्त्रियः।
पुमान्प्रजापतिस्तत्र शुक्रं तेजोमयं विदु ॥ (१८३।१५)

अध्याय १९४ में दान, धर्मचरित या धर्माचरण, तप, स्वाध्याय और अग्निहोत्र के फल के विषय में प्रश्न किया गया है। कहा गया है कि अग्नि-

---

१. यत्र यत्सत्य स धर्मो यो धर्म स प्रकाशो य. प्रकाश स्तत्सुख-मिति।
यत्र यदनृतं सोऽधर्मो योऽधर्मस्तत्तमो, यत्तमस्तद्दु ख मिति।
(१८३।५)

होत्र से पाप की शान्ति होती है। स्वाध्याय से जो शान्ति मिलती है, वह उत्तम है। दान से भोग और तप से सर्व-प्राप्ति होती है।[1]

इसके बाद चार आश्रमों के आचार बताये गये है। यह गद्यांश किसी प्राचीन गृह्यसूत्र से लिया गया या उस पर आधारित जान पड़ता है।

अध्याय १८५ मे उसी विषय को जारी रखते हुए वानप्रस्थ और परिव्राजको के मत कहे गये है।

इन मतो मे एक मत यह भी सुना जाता है—

अस्माल्लोकात्परो लोकः श्रूयते नोपलभ्यते ॥ (१८५।७)

अध्याय १८६ से आचार धर्म का कथन प्रारम्भ किया गया है। यह प्रकरण मनुस्मृति तथा कई पुराणो में भी आता है। स्नान, संध्या, भोजन आदि के नियमों को शिष्टाचारमय महान् धर्म कहा जाता था।

अध्याय १८७ मे बुद्धि, त्रैगुण्य और मनीषी का विवेचन है। यह अध्यात्म का विषय माना जाता था।

: ८८ :

ध्यान योग

श्वेताश्वतर उपनिषद् में दस वादो का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि तत्त्वचिन्तकों ने सत्य की खोज के लिए ध्यान योग का आश्रय लिया (ते ध्यानयोगानुगतानुपश्यन)। ध्यान योग उस युग की सर्वसम्मत साधना विधि थी। यहा अध्याय १८८ मे ध्यान योग का विवेचन किया गया है।

ध्यान योग, ज्ञान योग, इन्द्रियसंयम योग, निर्वाण या मोक्ष योग—ये सब योग के अवान्तर भेद थे। साधक को योगवित् या योगी कहा गया है। ध्यान योग मे लेखक की सबसे अधिक रुचि ज्ञात होती है। हठयोग,

---

1. हुतेन शाम्यते पापं स्वाध्याये शान्तिरुत्तमा।
दानेन भोग इत्याहुस्तपसा सर्वमाप्नुयात्॥ (१८४।२)

वेदपाठी ब्राह्मण दो भागो मे बट गए थे—एक निगदपाठी जो उच्च कण्ठ से पाठ करते थे, दूसरे तूष्णींपाठी जो जापक कहलाते थे।

ब्राह्मण के मागने पर सावित्री ने वरदान दिया कि जप के फलस्वरूप तुम्हे ब्रह्मस्थान की प्राप्ति होगी (प्रयाति संहिताध्यायी ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्। १९२।११८)।

जपको एकाग्रधर्म कहा गया है। उसके लिए मन समाधि आवश्यक है। आगे कहानी दी गई है कि धर्म, यम, मृत्यु और काल मनुष्य रूप रखकर उस ब्राह्मण के पास आये और उससे अपनी-अपनी श्रेष्ठता के विषय मे बहस करने लगे। धर्म ने उसे स्वर्ग भेजना चाहा, पर ब्राह्मण ने शरीर के बिना स्वर्ग जाना पसन्द नही किया।[1]

इसकी व्यञ्जना यह थी कि जप योग से शरीर रहते ही स्वर्ग का सुख मिल जाता है। तो काल, मृत्यु तथा यम इन तीनो ने कहा, "हे ब्राह्मण, तुम जप के रूप मे उत्तम तप कर चुके, अब तुम्हें हम लेने आये है!"

बहुत विवाद के बाद निश्चय हुआ कि वह स्वर्ग नही चाहता, पर जप के प्रभाव से वह ब्रह्मभूत, सुखी, शान्त और निरामय हो चुका है। जापक को वह अक्षरसञ्ज्ञक अद्वितीय अजर और शान्त ब्रह्मस्थान प्राप्त हो जाता है। अतिम निष्कर्ष यह बताया गया है कि सब योगो का फल जपयोग के तुल्य है—जापकैस्तुल्यफलता योगानां नात्र संशय (१९३।२२)।

: ९० :

स्वभाववाद और अध्यात्मवाद का समन्वय

अध्याय १९५ मे मनु-बृहस्पति संवाद के रूप मे स्वभाववाद और आत्मवाद का समन्वय किया गया है। शरीरी आत्मा जब आत्मकेन्द्र मे आता है तो पञ्चभूत, पञ्चेन्द्रिया और उनके पांच गुण, ये सब उस केन्द्र मे

1. सशरीरेण गन्तव्यो मया स्वर्गो न चा विभो (१९२।२६)।

अध्याय १९९ मे कर्म की महिमा का वर्णन है। जैसे सोने का धागा, मूर्ति, मणि-मूंगे मे पिरोया जाता है, वैसे ही आत्मा कर्म के अनुसार नाना योनियो में जाता है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि को निर्वल करके अन्तरात्मा का दर्शन यह इस मत का सार था, जिसका प्रतिपादन गीता मे भी किया गया है।

अध्याय २०० में नारायण, कृष्ण या गोविन्द महिमा का किसी भागवत लेखक ने वर्णन किया है, जो गुप्त युग मे जोडा गया विदित होता है। युधिष्ठिर ने कहा, "पुण्डरीकाक्ष, अत्युत, महाप्राज्ञ, विष्णु, हृषीकेश, नारायण, केशव की महिमा मैं सुनना चाहता हूं।"

उत्तर मे भीष्म ने कृष्ण के माहात्म्य के विषय मे या नारायण के विपय मे जामदग्न्य राम, देवर्षि नारद, द्वैपायन कृष्ण, असित देवल और वाल्मीकि और मार्कण्डेय के द्वारा कही हुई नारायण की महिमा सुनायी।

केशव भगवान्, ईश्वर, प्रभु और पुरुष समानार्थक है। पुराणविद् उनका इस प्रकार कीर्त्तन करते है। उस महात्मा पुरुषोत्तम ने अपने भूतात्मा रूप से महाभूतों को बनाया। उस महात्मा पुरुषोत्तम ने जल में शयन किया। उन्होने अपने संकर्षण रूप का सृजन किया। उनकी नाभि से सूर्य के समान दिव्य और तेजस्वी कमल उत्पन्न हुआ। उस पुष्कर में सब लोको के पितामह ब्रह्मा ने जन्म लिया। तब तमागुण से मधु नामक असुर उत्पन हुआ। वह ब्रह्मा को मारना चाहता था, किन्तु पुरुषोत्तम विष्णु ने उसका ही बध कर दिया। इससे उनका नाम मधुसूदन हुआ।

इसी प्रसंग मे ब्रह्मा द्वारा अङ्गुष्ठ पुरुष दक्ष प्रजापति के जन्म का वर्णन है। और दक्ष ने अनेक कन्याओ द्वारा जिस प्रपञ्च को जन्म दिया, उसका भी विशद उल्लेख है।

सृष्टि विद्या के प्रसग मे भागवतो द्वारा स्वीकृत यह एक दृष्टि थी, जिसका बहुत विस्तार भागवत आदि पुराणो मे आया है। यहा यह उल्लेखनीय है कि विष्णु ने अपने मुख, भुजाओं, जंघा और पैरो से असख्य ब्राह्मणो, शत क्षत्रियो, शूद्रशतो को जन्म दिया। लेखक की दृष्टि

में यह शत शब्द अपरिमित संख्या का वाचक था। इससे सूचित होता है कि उसने समाज मे प्रचलित चार वर्णों की व्यवस्था को मुख्य माना, तब उसकी व्याख्या विष्णु के शरीर से की। निश्चय ही यह विवेचन युक्ति-सगत था।

यहा कहा गया है कि सत युग और त्रेता में संकल्प से उत्पन्न मानसी सृष्टि थी, किन्तु द्वापर से मैथुनी सृष्टि का आरम्भ हुआ (द्वापरे मैथुनो धर्मं प्रजानामभवन्नृप। २०२।३७)। इस मैथुनी सृष्टि में तलवरान्ध्र, आन्ध्र, पुलिन्द, शवर, चूचुप, (चेंचू) और मण्डप का दक्षिणापथ में और यवन, काम्बोज, गान्धार, किरात तथा बर्बर पापयोनियो का उत्तरापथ में जन्म हुआ। यह पुण्डरीकाक्ष केशव की महिमा है। भगवान् केशव अचिन्त्य है। वे केवल मानुष नही है।

अध्याय २०१ में सात ब्रह्मपुत्रो के और फिर उनसे अनेक ऋषियो के जन्म का वृतान्त है। यह सामग्री वैदिक परम्परा से यहा तथा अन्य पुराणो में ली गई है।

अध्याय २०२ में कृष्ण या विष्णु के वराह अवतार का वर्णन है, जो गुप्तकाल में भागवतो का प्रिय विषय था।

अध्याय २०३ में योग और अध्यात्म की व्याख्या है।

अध्यात्म २०४ में वार्ष्णेयाध्यात्म का वर्णन है।

अध्याय २०४ और २०५-२०६ में कृष्ण के अध्यात्म स्वरूप की व्याख्या करते हुए सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणो की व्याख्या की गई है।

२०६-२१० अध्यायो में श्रीमद्भग्वद्गीता के प्रवृत्ति मार्ग और अध्यात्म योग का लगभग उन्ही शब्दो में विवेचन है।

अ० २१२ में साख्य शास्त्र के निवृत्ति मार्ग, सिद्धान्त और साधना का पञ्चशिख कापिलेय के द्वारा विस्तृत वर्णन किया गया है।

अध्याय २१३ में गृहस्थ-जीवन मे सदाचार वृत्त का वर्णन किया गया है और अध्याय २१४ मे गृहस्थ व्यक्ति के लिए तप का विधान बतलाया गया है। तप क्या है—स्वल्पाहार, अनशन, मास और पक्ष का उपवास,

शम, दम तथा ब्रह्मचर्य। सदोपवासी, दानी, धर्म-कुटुम्बी, देव की आराधना करने वाला, अमिताशी, यज्ञ-उच्छिष्ट-भोज्य और अतिथिप्रिय व्यक्ति गृहस्थ होते हुए भी तपस्वी होता है।

जो प्रातः भोजन और सायं भोजन के बीच कुछ नही खाता, वह सदोपवासी होता है।[1]

जो केवल ऋतुगामी होता है, वह सदा ब्रह्मचारी होता है। भृत्य और अतिथियो को भोजन कराकर जो खाता है, वह अमृतभोजी है। अभोजन से व्यक्ति स्वर्ग जीत लेता है। देवता, पितर, भृत्य और अतिथियों से बचा हुआ भोजन जो करता है, वह यज्ञभोजी है। इस अध्याय में परिमित भोजन, स्वल्पाहार या उपवास को ही गृहस्थ व्यक्ति के लिए सबसे बडा तप और सदाचार का नियम कहा गया है।

अध्याय २१५ मे इन्द्र-प्रह्लाद संवाद के रूप में कर्म और प्रज्ञा के जीवन की व्याख्या कराई गई है।

अध्याय २१६ मे इन्द्र-वलि संवाद के रूप मे ऐश्वर्य की अनित्यता का वर्णन किया गया है।

असुरराज वलि कालपर्याप दृष्टि को मानने वाले थे। वे संसार की सव वस्तुओ को अन्तवान् जानकर शोक और हर्प स प्रभावित नही होते थे (अध्याय २१७)।

अध्याय २१८ मे बलि की श्री और इन्द्र का सवाद है जिसमे श्री ने अपने स्थान वताये हैं।

अध्याय २१९ में इन्द्र और नमुचि के संवाद के रूप मे कालवाद की व्याख्या की गई है।

अध्याय २२० में प्रश्न उठाया गया है कि बन्धुनाश और राज्यनाश जैसी कठिन विपत्ति मे फंसे हुए मनुष्य को क्या करना चाहिए? यह प्रश्न

---

1 अन्तरा प्रातराशं च सायमाशं तथैव च।
सदोपवासी च भवेद्यो न भुङ्क्ते कथंचन ॥ (२१४।९)

वैसा ही है जैसे आपद्धर्म मे राजा के लिए किया गया है। और उत्तर भी लगभग वही है। इसमे कालपर्याय वाद के अन्तर्गत सुख-दु ख पर्याय का विवेचन है—

कालेन त्वाहमजयं कालेनाह जितस्त्वया।
गन्ता गतमिता कालः काल कलयति प्रजा ॥ (२२०।३५)

युधिष्ठिर ने पूछा कि भविष्य मे आने वाले कल्याण और अकल्याण के समय मनुष्य का मन कैसा हो जाता है ? यह उल्लेखनीय है कि असुरो की देवी को नक्षत्र और तारो के आभूपण और देवराज इन्द्र की श्री लक्ष्मी को कमलो की माला पहने हुए कहा गया है—पद्माश्री पद्ममालिनी (२२१।२०)। ये दोनो लक्षण मथुरा से प्राप्त काली मिट्टी की देवी मूर्तियो मे घटित होते है।[1]

इस अध्याय में इन्द्र और वासव का सवाद है।

अध्याय २१२ में ब्रह्मस्थान के आचार और नियम वताये गए है। इसमें समत्व और सयम का ही उपदेश दिया गया है।

अध्याय २२३ मे उग्रसेन-वसुदेव के सवाद के रूप में मनुष्य के सभी गुणो के विपय मे प्रश्न किया गया है, जैसे, ऋजु, सत्यवादी, तपस्वी, विनयी, सुखशील, सुसभोग, सुभोज्य, स्वादर, शुचि, तितिक्षु, मनोनुकूल-वादी, बहुश्रुत, चित्रकथ, पण्डित, अशठ, अदीन, अक्रोधी, अलुब्ध।

अध्याय २२४ में युधिष्ठिर ने भूतो के आद्यन्त, ध्यान, कर्म, काल, आयुवल, लोकतत्त्व, भूतो की आगति और गति, सर्ग और मृत्यु के विषय में प्रश्न किया। उत्तर में भीष्म ने व्यास और शुक के सवाद रूप में इस महान् प्रकरण का वर्णन किया। आरम्भ मे छोटी-बडी काल की इकाइयो की गणना दी गई है। सतयुग में धर्म के चार पैर थे, फिर क्रमश उसका ह्रास हुआ। चार युगो की द्वादश साहस्त्री से एक ब्राह्म दिन होता है। उतनी ही काल सख्या से ब्राह्मी रात्रि होती है। ब्रह्मा से महत् तत्त्व एव महत् तत्त्व से मन, मन से पञ्चभूत और पञ्चभूतो से उनकी तन्मात्राए जन्म लेती है। यही सृष्टि के आरम्भक सप्त पुरुष है (एते तु सप्त पुरुषा

नानावीर्याः पृथक् पृथक् । २४४, ४१) । किन्तु बिना एक दूसरे से मिले हुए ये सृष्टि न कर सके । जब ये एक साथ मिले तब इनका वह समाश्रय भाव पुरुष कहलाया । उस श्रयण को ही शरीर कहते है । वह षोडश-भावों (पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच महाभूत और मन) का मूर्त रूप था । शरीर, कर्म तथा पुरुष का और भी विशद वर्णन किया गया है, जैसा भागवतों मे मान्य था । विश्व का प्रतिसंचर कर्म अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन और अव्यक्त रूप मे कहा गया है। संचर सृष्टि और प्रतिसंचर ही प्रलय है। उस प्रकार संचर-प्रतिसंचर के रूप में जगत् का विस्तार और संक्षेप होता है । इसी को संज्ञा संकोच और विकास है ।
(अ० २२५)

अध्याय २२६ मे राजाओ के नाम और कृत्यो का उल्लेख है ।

अध्याम २२७-२३० मे प्रज्ञादर्शन का विशद वर्णन है ।

अध्याय २३१ में प्रज्ञादर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म प्राप्ति का वर्णन है ।

अध्याय २३२ मे प्रज्ञादर्शन के अन्तर्गत इन्द्रियनिग्रह का वर्णन है ।

अध्याय २३३ में प्रज्ञादर्शन के अन्तर्गत क्षराक्षर का वर्णन किया गया है ।

अध्याय २३४ मे ब्रह्मचारि-धर्म का निरूपण है ।

अध्याय २३५ मे प्रज्ञादर्शन के अन्तर्गत विशेष प्रकार की बुद्धि के साधन का वर्णन किया गया है ।

अध्याय २३६ में वानप्रस्थ-धर्म का निरूपण है ।

जैसे हाथी के पाव मे और सब पैर समा जाते है, ऐसे ही संन्यासी के धर्म में अन्य सभी धर्मों का समावेश समझना चाहिए । वह अहिंसक, समदर्शी, सत्यवादी, धैर्यवान्, जितेन्द्रिय और सभी भूतो का शरण्य होता है । भिक्षु के और भी लक्षण इसमे बताये गए है । (अ० २३७)

अध्याय २३८ मे सबके हृदय मे अवस्थित गूढ आत्मा का वर्णन है । इसके ये रूप है—भूतात्मा, प्रज्ञानात्मा (मन), विज्ञानात्मा (बुद्धि), महदात्मा, अव्यक्तात्मा । अव्यक्तात्मा जिसके लिए गूढाऽऽत्मा यह संज्ञा उपनिषदों में बनाई

गई थी (एष सर्वेषु भूतेषु गूढाऽऽत्मा न प्रकाशते। कठ उ० ३।१२) को सत्त्व में समाविष्ट करके मृत्युजय वन जाता है। निवात दीप की भाति उसका चित्त कही से कम्पित नही होता। योगी के सम्पूर्ण लक्षण इस वर्णन मे आये है। इस प्रकार रात्रि के पूर्व और पश्चिम भाग में योग सावन करता हुआ आत्मा का आत्मा में दर्शन करता है। (अ० २३८)

अध्याय २३९ में शुक ने अध्यात्म विद्या के विस्तृत वर्णन का प्रश्न किया। इस प्रकारण में आई हुई अध्यात्म सामग्री का जैसे कोई अन्त ही नही। व्यास जी ने शुकदेव से अध्यात्म विद्या का पुन विस्तार से वर्णन कहा।

जैसे समुद्र में हिलोर पर हिलोर उठती है, ऐसे ही पञ्चभूतो में उनके गुणो की लहरें उठती रहती है। शब्द, श्रोत्र, आकाश आदि का अनन्त क्षेत्र है। ऐसे ही वायु, स्पर्श, रस और जल, तेज, रूप और अग्नि, घ्राण, गन्ध और पृथिवी इनकी ऊर्मियो का इस जीवन में क्या कभी कोई अन्त होता है? इनके ऊपर और इनसे भी सूक्ष्म मन और बुद्धि की लह-रियो का कही कोई अन्त नही। जीवन भर प्राणी उनका अनुभव करता है। यह सब अध्यात्म का क्षेत्र है। इनमें तीन गुणों की सूक्ष्म पर्तें पडी हुई है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का यह जाल वहुत ही सूक्ष्म और अपरमित है। देहधारियो को इन्द्रियग्राम इस ओर से उस ओर तरगित करता रहता है।

(अ० २३९)

भावो का धरातल मन है। इन्द्रिय से अध्यवसाय का निश्चय किया जाता है। हृदय प्रिय और अप्रिय के अनुभव का साधन है। कामगोचर इन्द्रियो से आत्मा का दर्शन नही होता। इन्द्रियरश्मियो को जव मन से रोक लिया जाता है, तो घर में रक्खे हुए दीपक की भाति आत्मा का प्रकाश दिखाई पडता है। (अ० २४०)

अ० २४० में प्रवृत्ति और निवृत्ति का मार्ग कहा गया है।

अ० २४२ परम धर्म का कथन है।

सव ओर से निवृत्ति की प्रशसा अ० २४३ में की गई है।

अध्याय २४५ में अन्तरात्मा का कथन है।

अध्याय २४५ मे ब्रह्म के दर्शन का उपाय कथित है।

कामना-त्याग का उपाय अध्याय २४६ मे कहा गया है।

अध्याय २४७ मे भूतो के गुणो का संख्यान है।

इस प्रकार चौबीस अध्यायो में शुकदेव के प्रश्न और व्यास के उत्तर के रूप मे प्रज्ञादर्शन और अध्यात्म विद्या का वर्णन किया गया है। यह अध्यात्म योग और आस्तिक दर्शन का बहुत ही अच्छा और सारगर्भित उपदेश है। इसमे गीता और उपनिषदो का सार पाया जाता है।

अध्याय २४७ से २५० तक प्रजापति तथा मृत्यु के संवाद के रूप में मृत्यु की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

अध्याय २५१ मे धर्म के लक्षणो का वर्णन किया गया है।

: ९१ :

तुलाधार-जाजलि संवाद

अध्याय २५२ से २५६ तक के पाच अध्यायों मे गृहस्थ धर्म की महिमा का एक हृदयस्पर्शी दृष्टान्त दिया गया है। जाजलि नाम का एक तपस्वी वन मे तप करने लगा। वह इतना सफल हुआ कि उसकी जटाओ मे पक्षियो ने अण्डे दे दिये। उनमे से बच्चे निकले, फिर भी जाजलि का ध्यान भग नही हुआ। इससे उसे अभिमान हो गया। वह जब नदी में स्नान करने गया तब उसने आकाशवाणी सुनी कि तुम्हारा धर्म-ज्ञान अभी तुलाधार वैश्य के समान नही हुआ। यह महाप्राज्ञ तुलाधार वाराणसी में रहता है। वह भी धर्म के विषय मे ऐसा दावा नही कर सकता जैसा तुम करते हो। यह सुनकर जाजलि आश्चर्यचकित हो गया और तुलाधार को खोजता हुआ वाराणसी आया। तुलाधार ने उसका स्वागत किया और कहा कि हे ब्राह्मण, तुम जब आ रहे थे, तभी हमने जान लिया था। तुमने समुद्र के किनारे महान् तप किया, किन्तु धर्म के रहस्य को नही जाना। तुम्हारी जटाओ मे पक्षियो ने घोसला बना लिया था। आकाशवाणी सुनकर तुममे क्रोध आ गया।

जाजलि ने तुलाधार से इसका रहस्य पूछा, तो उसने कहा "मै गन्ध द्रव्यों का व्यापार करता हू। मेरी जीविका में किसी प्राणी से द्रोह नही है। मेरे किसी भी काम में माया या छल नही है। मैं सब प्राणियो के हित में कार्य करता हू। मै मिट्टी और सोने को एक-सा मानता हू। मै किसी दूसरे के काम की न प्रशसा करता हू, न निन्दा। सब भूतो में समता मेरा व्रत है। मेरी तुला मुझे इष्ट और अनिष्ट में, राग और द्वेष में समत्व भाव रखने की चेष्टा देती है।"

तुलाधार ने १८६ श्लोको के सवाद मे जिस धर्म की व्याख्या की, उसमे यज्ञ का कोई उल्लेख न था। ज्ञात होता है कि यह कम या अधिक बौद्ध-धर्म के ही उपदेशो का एक सस्करण था। इस पर जाजलि ने पूछा कि यह तुम्हारा सिखाया हुआ धर्म है। यदि इसे हम मान लें, तो स्वर्ग का द्वार वन्द हो जायगा। इस पर तुलाधार ने कहा, "मैं नास्तिक नही हू, न यज्ञ की निन्दा करता हूं। किन्तु जो विशुद्ध प्रज्ञाधर्म है, जो सम्यक् वृत्ति है, जो सम्यक् कर्म, सम्यक् वाणी और सम्यक् धर्म है, उसी की व्याख्या करता हूं।" ज्ञात होता है, तुलाधार की अधिकाश शिक्षा बौद्धो के ग्रथ धम्मपद से सकलित की गई थी। जैसे

यस्माद्‌द्विजते लोक सर्पाद्वेश्म गतादिव।
न स धर्ममवाप्नोति इहलोके परत्र च॥ (१२।२५४।३१ महाभारत)

यो दुक्खस्स पजानाति इधेवखयमत्तनो।
पन्नमार विसंयुत तमह ब्रूमि ब्राह्मणम्॥ (जातकब्राह्मणवग्ग २०)

अध्याय २५७ मे यज्ञो में अहिंसा का प्रतिपादन किया गया है, जिसकी संज्ञा विचख्नु गीता है।

अध्याय २५८ में यह व्यावहारिक प्रश्न उठाया गया है कि जीवन में कार्य की साधना चिरकाल तक करनी चाहिए या अचिरकाल तक। अन्त में यही निर्णय किया गया है कि चिरकाल तक सब धर्मो की उपासना होनी चाहिए।

अध्याय २५९ मे कहा गया है कि सतयुग में केवल 'धिक् दण्ड' था, द्वापर मे 'आदान दण्ड' या जुर्माना आवश्यक था और अब वध दण्ड आवश्यक है। अत' राज्य चलाने के लिए शारीरिक दण्ड आवश्यक है।

: ९२ :

गो-कापिलेय संवाद्

अध्याय २६०-२६३ मे गो-कापिलेय संवाद के रूप मे इस प्रश्न का समाधान किया गया है कि गृहस्थ धर्म और योग धर्म इन दोनो का समन्वय कैसे हो सकता है और दोनों मे कौन श्रेष्ठ है ? इस विषय मे कपिल और गौ का सवाद प्राचीन जान पडता है। उस गौ को त्वष्टा के आतिथ्य के लिए आलम्भन के उद्देश्य से नहुष ने चुना था। उसे देखकर कपिल ने एक बार इतना ही कहा—हा वेद! (जो तुम्हारे नाम पर लोग ऐसा अनाचार करते है)। उस समय स्यूमरश्मि नामक एक ऋषि ने उस गाय के भीतर प्रवेश करके कपिल मुनि से कहा, "अहो, यदि वेदो की प्रामाणिकता पर आपको संदेह है, तो अन्य धर्मशास्त्रो को किस आधार पर प्रमाणभूत माना जा सकता है?" यहाँ स्पष्ट ही वैदिकी हिंसा पर आक्षेप किया गया है और यह भी संदेह किया गया है कि वेद-प्रस्तावित चार आश्रमो का धर्म कहा तक समीचीन है ? यह उस युग में बौद्धो का वेद के सवध मे विचार था, अहिंसा और हिंसा को लेकर यह प्रश्न बहुत ही जटिल और कठिन बन गया था। यह बौद्धो और भागवतो के बीच मे मत-भेद का बवंडर बन गया था।

उससे पिण्ड छुडाना भागवतो के लिए मुश्किल हो रहा था। एक ओर तो वे वैदिकी हिंसा की निन्दा नही कर सकते थे, दूसरी ओर अहिंसा का समर्थन करने पर बाध्य थे। कपिल बौद्ध या वेद-बाह्य दृष्टिकोण के समर्थक है और स्यूमरश्मि मिलि-जुली बात कह कर वैदिक मत का समर्थन कर रहे है। स्यूमरश्मि के मत मे यज्ञ आवश्यक है। भागवतो ने यज्ञ के समर्थन में लम्बे-चौड़े तर्क खडे किये। यज्ञ द्वारा प्रजापति ने विश्व बनाया।

विश्व के लिए यज्ञ आवश्यक है। यज्ञ के १२ अंग थे--ओषधि, पशु, वृक्ष, लता, घी, दूध, दही, अन्नादि हविष्य, भूमि, दिशा, श्रद्धा और काल। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और यजमान मिलाकर सोलह यज्ञाग होते है। तथा, गार्हपत्य अग्नि को सत्रहवा यज्ञाग समझना चाहिए। इन सत्रह में हिंसा तो केवल एक यज्ञाग है। उसी को लेकर इतना बखेडा करना अनावश्यक है। अन्य यज्ञाङ्गो से यज्ञ सपन्न किया हो जा सकता है। भागवतो का दूसरा प्रबल तर्क यह था कि पूर्वकाल से ऐसा ही होता आया है, इस कारण हम तुम्हारा नया मत स्वीकार नही कर सकते। यज्ञ का अनुष्ठान विश्व की स्थिति के लिए आवश्यक है। उसमें किसी के साथ द्रोह का भाव नही है। यज्ञ शास्त्र में वर्णित है। संपूर्ण यज्ञाङ्गो एक दूसरे को धारण करते है। यज्ञ शास्त्र के जाने बिना इन यज्ञाङ्गो के साथ झगडा करना उचित नही। केवल पशु हिंसा के आधार पर यज्ञ को अवैध मानना ठीक नहीं और इस युक्ति को यज्ञ के विपक्ष मे कभी स्वीकृत नही किया जा सकता। विद्वान् पुरुषो ने वेद और ब्राह्मण तथा उनमें कहे हुए कर्मकाण्ड को प्रमाण माना है। इन आम्नायो या आगमो को हम नही छोड सकते। वेदो के ब्राह्मण भाग से यज्ञ प्रकट हुआ है। यज्ञ के पीछे सारा जगत् और जगत् के पीछे सदा यज्ञ रहता है। यज्ञ प्रवृत्ति मार्ग है, आपका मत निवृत्ति-प्रधान है। किन्तु गृहस्थो के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो ही मार्ग है। उत्तर में कपिल ने निवृत्ति मार्ग और ज्ञानियो का समर्थन किया। ये ज्ञानी प्रज्ञावादी बौद्ध और साख्यवादी परिव्राजक थे। किन्तु स्यूमरश्मि ने गृहस्थो का ही पक्ष लिया। यदि गृहस्थ आश्रम न हो तो सन्यास वैराग्य और मुण्डको के सब धर्म विफल हो जाय। जैसे समस्त प्राणी माता की गोद का सहारा पाकर ही जीवन धारण करते है, उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम का आश्रय लेकर ही दूसरे आश्रम टिके हुए है।

गुप्त युग की इसी पृष्ठभूमि मे कालिदास ने गृहस्थ को सर्वोपकारक्षम आश्रम लिखा था (कालोह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षमाश्रमं ते। रघु० ५।१०)। यज्ञ और तप का मूल कारण गार्हस्थ

आश्रम ही है। गृहस्थाश्रम का पालन मोक्ष मे बाधक है। इस कथन का साहस किसमे है? जो श्रद्धारहित, मूढ और सूक्ष्म दृष्टि से वंचित है, अस्थिर, आलसी, श्रान्त और अपने पूर्वकृत कर्मों से संतप्त है, वे अज्ञानी पुरुष ही संन्यास मार्ग का आश्रय लेकर गृहस्थ धर्म मे शान्ति का अभाव देखते है।

ऐसे कटीले तर्को के बाणो से भागवतो के तर्कश भरे हुए थे। वे तीर ठीक निशाने पर बैठते थे। सच बात यह है कि दोनों पक्षो मे एक-एक कमजोरी थी। बौद्धो के लिए गृहस्थ धर्म को आदीनत्र या दुःख बताना भारी जजाल था। यह पूरा बर्रो का छत्ता था जिससे भागवत और उनके छोटे-से-छोटे अनुयायी भी पूरा लाभ उठाते थे। इस क्षेत्र मे बौद्ध अपना शस्त्र कभी नही संभाल पाये और भागवतो के प्रबल तर्कों के सामने उन्हे सदा कुंठित ही हो जाना पडा। विशेषतः एक ओर गृहस्थ धर्म की निन्दा और दूसरी ओर विहारो में भिक्षुभिक्षुणियों के आचार उनके लिए बहुत मंहगे पडे। दूसरी ओर भागवतो ने कई प्रवल युक्तियो से अपने अखाड़े को दमदार वना लिया। इसके लिए उन्होने दो सिद्धान्त निकाले—एक तो वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, और दूसरा अहिंसा परमो धर्मः, इस मत को भी उन्होने पूरी तरह मान लिया। तीसरे उन्होंने वहा पशुवाची अज शब्द का अर्थ तिल किया और यज्ञों मे पशुओ की हिंसा के स्थान पर तिल, जौ आदि ओषधियों का प्रयोग शुरू किया। यहा स्पष्ट लिखा है कि नगर, जंगल और पहाडो पर उत्पन्न होने वाली सब ओषधिया प्राण के रूप हैं। अतः वे ही प्राणी है (२६१।९)। इससे सूचित होता है कि भागवतों ने अपने बुद्धि-वल से प्रचार के साधनो को वहुत ही तीक्ष्ण और सबल वना लिया था। एक ओर उन्होने यज्ञीय हिंसा से मुंह नही मोडा, दूसरी ओर यज्ञ की अपूर्व प्रसंसा की। तीसरी ओर पशु हिंसा को १७ यज्ञाङ्गो मे केवल एक मान-कर ओपधि-वनस्पतियो की नई परिभापा खडी कर दी। और चौथे स्थान मे, अहिंसा को सर्वात्मना परम धर्म मान लिया। इसके अतिरिक्त गृहस्थ धर्म की महिमा को अनेक लोकसंमत युक्तियों से पल्लवित किया। भागवतो

के इस पञ्चशाखीय प्रहार के समक्ष बौद्ध बैठ गये। उन्होने गर्व से कहा, "वैदिक धर्म की सनातन मर्यादा तीनो लोको का हित करने वाली एवं ध्रुव है। बिना वैदिक मन्त्रो के कोई भी मनुष्य तीन ऋणो से उऋण नही हो सकता।" इसके लिए बौद्धो के पास कर्मकाण्ड का कोई विधान नही था, किन्तु भागवतो के पास १६ संस्कारो का विस्तृत कर्मकाण्ड सबके लिए खुला हुआ था। इसी के साथ व्रतोपवास, दान और तीर्थ-यात्रा इन तीनो का भी गृहस्थ मात्र के लिए विस्तृत प्रतिपालन गुप्त युग में किया गया। अत. गुप्त युग के मानव के लिए भागवत धर्म हर्षोल्लास और आनन्द का भरापूरा सरोवर बन गया। उसमें एक आकर्षण था, जो त्याग और वैराग्य की पद्धति में नही था। इसकी तुलना में विहारो में भिक्षुओ का जीवन प्रायः सभी विधायक तत्त्वो से शून्य था और वे गृहस्थो को अभिशप्त करने के अतिरिक्त और कुछ न कर पाते थे। ऐसी परिस्थिति में विजय पताका भागवतो के हाथ मे रही, उसीका समसामयिक चित्र गो-कापिलेय आख्यान में खीचा गया है। वेदो के अनादर से और कर्मकाण्ड को छोडने से कोई मनुष्य परब्रह्म को प्राप्त नही कर सकता।

ज्ञात होता है कि इस सवाद के पक्ष और विपक्ष में दिए जाने वाले तर्क आपस में जटिलता से गुथ गये और दोनो आचार्यों के लिए उसकी स्पष्ट व्याख्या कठिन हो गई। अन्त मे कपिल को कहना पडा कि हम वेद की निन्दा नही करते। वह शब्दब्रह्म है। दूसरा परब्रह्म है, जो योग और ज्ञान से प्राप्त किया जाता है। शब्दब्रह्म मे निष्णात व्यक्ति परब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है (शब्दब्रह्मणि निष्णात. परब्रह्माधिगच्छति। २६२।२)।

आगे चलकर इस सवाद का झुकाव कुछ ऐसा ही हो जाता है। बौद्धो और ब्राह्मणो के तर्क पहले आपस मे टकराकर फिर आपसमे मेल ढूढने लगते है। अध्याय २६२ की विशेषता ऐसी ही है। अन्त में कुछ ऐसा समन्वय दिखाई पडता है—सतोष ही जिसके सुखका मूल है, त्याग ही जिसका स्वरूप है, जो ज्ञान का आश्रय कहा जाता है, जिसमें मोक्षदायिनी बुद्धि

तथा ब्रह्म साक्षात्कार रूप वृत्ति आवश्यक है, वह संन्यास आश्रमरूप धर्म सनातनहै। जो वेदो और उनके द्वारा जानने योग्य परब्रह्म को ठीक-ठीक जानता है, उसी को वेदवेत्ता कहते हैं। उससे भिन्न जो दूसरे लोग है, वे मुंह से वेद नही पढते, धौंकनी के समान केवल हवा छोडते है। जो वास्तव मे ब्रह्मवेत्ता से अभिन्न है, उस परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है।

धर्म, अर्थ, काम के त्रिवर्ग में धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। इस बात को एक ब्राह्मण और कुण्डधार मेघ की कहानी कहकर समझाया गया है (अध्याय २६३)।

अध्याय २६४ में यज्ञ के लिए हिंसा की निन्दा एक कहानी के रूप में कही गई है। उसीमें सत्य का उपदेश भी कहा गया है।

अध्याय २६५, २६६, २६७ में पंचभूत और जीवात्मा के सम्बन्ध में फुटकर विषय आये है।

अध्याय २६८ तृष्णा परित्याग के विषय में माण्डव्य मुनि और जनक के सवाद रूप में कहा गया है। इसका निष्कर्ष यह है कि मोक्ष मार्ग के लिए तृष्णा का परित्याग आवश्यक है।

अध्याय २६९ में संन्यासी के लिए भिक्षा मांगने के नियम कहे गए है, जो मनुस्मृति मे भी वैसे ही आये है।

अध्याय २७० मे शुक्राचार्य और वृत्रासुर के संवाद रूप मे वृत्र के मुख से समस्त उत्तम धर्मो का कथन कराया गया है, जिनका आश्रय लेकर वह राज्यच्युत हो जाने पर भी सुखी था।

अध्याय २७१ मे वृत्र से शुक्राचार्य ने विष्णु की महिमा का वर्णन किया है जो भागवत धर्म का अंग था।

अध्याय २७२ मे इन्द्र द्वारा वृत्रासुर के वध का वर्णन है। वृत्र ब्राह्मण था। उसके वध से इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी और तब ब्रह्मा के प्रयत्न से वे उस ब्रह्महत्या से मुक्त हुए।'ब्रह्मा ने उसके चार टुकड़े करके अग्नि मे, वृक्षों पर, जल मे और रजस्वला स्त्रियो मे डाल दिए और उनसे

मुक्त होने की शर्तें भी बता दी। अग्नि को प्रज्वलित पाकर जो हवन न करेगा, जो वृक्षो को काटेगा, जो जल में मल-मूत्र डालेगा और जो रजस्वला से गमन करेगा, उस पर यह ब्रह्महत्या चली जायगी।

अध्याय २७३-४ मे ज्वर की उत्पत्ति का वर्णन है। एक बार निमंत्रण न पाकर शिव ने दक्षयज्ञ का विध्वंस किया तो उनके ललाट से स्वेदबिंदु भैरव रूप मे उत्पन्न हुआ, वही ज्वर बन गया और उसके अनेक रूप पृथ्वी पर फैल गए। हाथियो का ज्वर उनके मस्तक मे ताप, पर्वतो का ज्वर शिलाजीत, जल का ज्वर सेवार, सर्पों का केंचुल, पृथ्वी का ज्वर ऊसर भूमि, घोडो का ज्वर उनके गले मे मासखड बढ जाना, मोरो का शिखा निकलना, सिहों में थकावट होना ही ज्वर का रूप माना गया है। तात्पर्य यह कि कालग्नि रूद्र का मूर्त रूप ज्वर है।

इसके बाद दक्ष ने शिव को प्रसन्न करने के लिए शिवसहस्रनाम स्तोत्र का पाठ किया। पूना सस्करण मे वह प्रक्षिप्त सिद्ध हुआ है और परिशिष्ट में रक्खा गया है (पृ० २०५४-२०६४)। यही स्तोत्र वामनपुराण मे वेन कृत माना गया है। इससे मिलता दूसरा शिवसहस्रनाम अनुशासनपर्व में है, जिसे वहा तडीकृत कहा गया है।

अध्याय २७५ में समङ्ग और नारद के संवाद रूप में शोक और दु ख में समत्व द्वारा प्रसन्नचित्त रहने के उपायो का वर्णन है।

अध्याय २७६ में कल्याण या प्रेम के सदेहरहित मार्ग का वर्णन पाया जाता है।

अध्याय २७७ में अरिष्टनेमि ने सगर को मोक्षप्राप्ति का उपदेश दिया है। इसमें संक्षेप और विस्तार से मुक्त पुरुष के लक्षण बताये गए है।

अध्याय २७८ मे महादेव जी के शरीर से शुक्राचार्य के जन्म की कथा है।

अध्याय २७९ से २८७ तक जनक और पराशर के संवादरूप में पराशर गीता कही गई है। इसमें श्रेय साधन, शुभकर्म प्रशसा, दान प्रशसा, धर्म प्रशंसा, धर्म प्रसिद्धि, तप प्रशंसा, वर्ण धर्म, वैराग्योपदेश, कर्म प्रशसा

आदि विषयो का घिसी-पिटी शैली मे वर्णन किया गया है। इन अध्यायों को पढते हुए ऐसा विदित होता है कि गुप्त युग के राजतन्त्र, न्याय तन्त्र, शासन और प्रजाओ के नैतिक जीवन के लिए इस सुन्दर और संक्षिप्त सामग्री का राजधर्म मे निपुण विद्वानो द्वारा प्रणयन किया गया था। मोक्षधर्म मे कई अध्यात्म विषयक गीता है, जैसे मंखि गीता (अ० १७१), हारीत गीता (अ० २६९), पराशर गीता (अ० २७६-२८७), हंस गीता (अ० २८८)।

अध्याय २८८ मे हंस-साध्य संवाद के रूप में हंस गीता ४५ श्लोको में वर्णित है। सृष्टि के आरम्भ मे प्रजापति ने सुनहले हंस का रूप धारण किया और सर्वत्र विचरने लगे। साध्य देवो ने उनसे धर्म की जिज्ञासा की तो उन्होंने पहले मधुर वाणी की प्रशंसा की और फिर यह बताया कि वेदो का उपनिपद् सत्य है, सत्य का उपनिषद् दम है, और दम का उपनिषद् मोक्ष है—

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम् ॥ (२८८।१३)

वाक् का वेग, मन का क्रोधवेग, लोभ का वेग, उदर और उपस्थ का वेग—जो इन वेगो को सहता है, उसे ही मै ब्राह्मण मानता हूं। क्रोधरहित व्यक्ति क्रोध करनेवाले से श्रेष्ठ है। तितिक्षु असहनशील से श्रेष्ठ है।

अमनुष्य से मनुष्य विशिष्ट है। तथा ज्ञान-रहित से ज्ञानवान् श्रेष्ठ है।

मै शाप का उत्तर शाप में नही देता। मेरी दृष्टि में दम अमृत का द्वार है। मै यह रहस्य ज्ञान तुम्हे बताता हूं कि मनुष्य से श्रेष्ठ यहां कुछ नही है।

यह मोक्षधर्म पर्व की स्वर्णाक्षरी उक्ति संस्कृत साहित्यमें अनुपम है—
नाहं शप्तः प्रतिशपामि किंचित् दमं द्वारं ह्यमृतस्येह वेद्मि।
गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि। न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित् ॥
(अ० २८८।२०)

सत्य स्वर्ग की सीढी है, जैसे समुद्र पार जाने के लिए नौका होती है।

अ० २८९ में युधिष्ठिर ने प्रश्न किया कि साख्य और योग में क्या भेद है? मोक्षधर्म पर्व में मुख्यतः पाच विषय है। एक तो वैदिक अध्यात्म विद्या जिसका ऊपर वार-बार वर्णन किया गया है, दूसरे साख्य मत, तीसरे योग का विवेचन, चौथे शैव दर्शन जिसका दक्षयज्ञ विध्वंस के प्रकरण में उल्लेख हो चुका है और पाचवा वैष्णव पाञ्चरात्र मत जिसे नारायणीय धर्म भी कहते है। उसका विस्तृत विवेचन आगे नारायणीय पर्व में आवेगा।

साख्य मतानुयायी साख्य की और योग मतानुयायी योग की प्रशंसा करते थे। योग मतानुयायी लोगो का कहना था कि ईश्वर के विना कुछ कारणो को मान लेने से मोक्ष की प्राप्ति संभव नही है। सांख्यवादी शास्त्र पर वल देते है और योगवादी प्रत्यक्ष अनुभव पर वल देते है। योग मत में साधना के ऊपर वहुत गौरव है। वलहीन योगी को विषय खीच ले जाता है, किन्तु वही अपने तेजको दीप्त करके सिद्धि तक पहुंचता है। जैसे धनुर्धारी वाण से लक्ष्य को वेधता है, वैसे ही योगी योगवल से मोक्ष को प्राप्त करता है। ध्यान और धारणा के द्वारा योगी अवश्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। योग के जो गुण शास्त्रो में कहे गए हैं, वे उसके शरीर में प्रकट हो जाते है, जैसे—शरीर में हल्कापन, आरोग्य, अलोलुपता, रग निखर जाना और कठ में स्वर का उत्तम हो जाना।

योग के वर्णन के वाद अध्याय २९० में साख्य का विशद वर्णन किया गया है।

: ९३ :

क्षर और अक्षर महिमा

अध्याय २९१ में वसिष्ठ और कराल जनक के संवाद के रूप में क्षर और अक्षर विद्या का विवेचन किया गया है। भूतो की संज्ञा क्षर है और

भूतो के धरातल पर प्रतिष्ठित आत्म चैतन्य की संज्ञा अक्षर है। इसे कूटस्थ भी कहते हैं।

अध्याय २९२ मे लगभग १२५ क्रियापथो की बडी सूची दी है।

अध्याय २९३ मे कहा है कि प्रकृति-पुरुष या माता-पिता के संयोग से इस देह की रचना होती है, जिसमे अनेक गुण और अवयव भरे रहते है, जिसका सूक्ष्म परिचय साख्य और योग के द्वारा होवा है। साख्य और योग को जो एक जानता है, उसी का जानना अच्छा है—एकं साख्यं च योगं च य. पश्यति स बुद्धिमान्। (२९३।३०)।

अक्षर एकत्व है और क्षर नानात्व है। ज्ञात होता है कि २४ तत्त्वों के अतरिक्त साख्य मत मे २५ वां जीवतत्त्व और २६ वा ईश्वर तत्त्व भी माना जाने लगा था—

पञ्चविंशतिसर्गं तु तत्त्वमाहुर्मनीषिण·। (२९३।४९)

यही गुप्त युग का नया सेश्वर सांख्य था।

अध्याय २९२ से २९६ तक वसिष्ठ और कराल जनक संवाद के रूप में मोक्ष, क्षर-अक्षर धर्म, दान धर्म, मातृ-पितृ-गुण-कथन, अनित्योपदेश, बुद्धिलक्षण—ये विषय है।

अध्याय २९७-२९८ मे जनक के द्वारा साख्य का ही विवेचन है।

अध्याय २९९ मे जनक द्वारा काल का विवेचन है।

सृष्टि का वर्णन करने के अनन्तर व्यक्त-अव्यक्त, निर्गुण-सगुण, क्षर-अक्षर के प्रलय की अवस्था का भी चित्र खीचा गया है, जब सब मूर्त रूप सहस्रशीर्षा पुरुप मे लीन हो जाते हैं। (अ० ३००)

इसके अनन्तर याज्ञवल्य और जनक के संवाद के रूप मे पुन: साख्य दर्शन का वर्णन है। (अ० ३०१-३०३) यहां याज्ञवल्क्य के मुख से इसको विशद व्याख्या करायी गई है कि जो अव्यक्त निर्गुण और अकर्ता है, उसमे व्यक्त सगुण कर्तृत्व आदि भावों का विकास कैसे हो जाता है।

संस्कृत के उत्थान युग मे सांख्य और योग इन दो धर्मो का वहुत ही

घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। साख्य को ज्ञान और योग को बल का प्रतीक मानते थे।

पाशुपत शैव और पाञ्चरात्र वैष्णव, ये दोनो भी साख्य और योग को स्वीकार करते थे। मोक्षधर्म मे बार-बार साख्य और योग की इस एकता का उल्लेख किया गया है (एकं साख्यं च योग च य. पश्यति स तत्त्ववित्। ३०४।४)।

याज्ञवल्क्य उपनिषद् युग के पुराने आचार्य थे। वे जनक के गुरु थे। मिथिला की राजसभा में कितने ही आचार्यों से अध्याय विषय पर उनकी चर्चा हुई थी। वहा उन्होने अक्षर ब्रह्म की विद्या का प्रतिपादन किया था। यहा अध्याय ३०६ में उन्ही के मुख से उनका चरित कहलाया गया है। कथा है कि याज्ञवल्क्य ने सूर्य की आराधना करके शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्रो को प्राप्त किया था जो माध्यन्दनी शाखा या वाजसनेयि शाखा के नाम से प्रसिद्ध है। शतपथ ब्राह्मण भी याज्ञवल्क्य की रचना है। इसके पहले दो काण्ड इष्टि, ३-४-५ पशुबन्ध, ६-७-८-९ अग्निचयन, और १० वा काण्ड अग्निरहस्य कहलाता है। ११ वें काण्ड का नाम सग्रह है। १२-१३-१४ परिशिष्ट कहलाते है। इन्ही में से अन्तिम १४ वें काण्ड में वे दार्शनिक और अध्यात्म विषय है, जिनके केन्द्र में याज्ञवल्क्य का महान् व्यक्तित्व है।

यहा शतपथ के साथ उसके रहस्य, परिशेष और सग्रह भागो का भी उल्लेख है। शतपथ के पहले ९ काण्डो में ६० अध्याय थे जिन्हें षष्टिपथ कहा जाता था। पीछे ५ काण्ड और जोडे गए जिससे शतपथ नाम हुआ। यहा यह भी कहा है कि सूर्य के वरदान से साख्य और योग में भी याज्ञवल्क्य को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। यहा कहा है कि याज्ञवल्क्य ने शुक्ल यजुर्वेद की १५ शाखाए और प्राप्त की और अपने सौ शिष्यो को वेद पढाया। वे मिथिला में जनक के यहा यज्ञ के पुरोहित भी बने। उसमे उन्हे भूरि दक्षिणा मिली जिसका आधा भाग उन्होने अपने मामा वैशम्पायन को दिया।

शतपथ को भी उन्होने रहस्य और परिशेप के साथ अपने शिष्यो को

पढाया। जब याज्ञवल्क्य इस प्रकार के गम्भीर ग्रन्थों की रचना कर चुके, तब वेदज्ञ विश्वावसु गन्धर्व ने उनसे २४ प्रश्न पूछे जो उत्तरसहित इस प्रकार है—

प्रश्न	उत्तर
१. विश्व क्या है ?	अव्यक्त प्रकृति विश्व है।
२. अविश्व क्या है ?	निष्कल ब्रह्म अविश्व है। (दृष्टव्य ऋ० १ । १६४ । १०)
३. अश्वा क्या है ?	अव्यक्त प्रकृति अश्वा है।
४. अश्व क्या है ?	पुरुष अश्व है।
५. मित्र क्या है ?	पुरुष मित्र है।
६. वरुण क्या है ?	प्रकृति वरुण है।
७ ज्ञान क्या है ?	प्रकृति ज्ञान है।
८. ज्ञेय क्या है ?	निष्कल आत्मा ज्ञेय है।
९. ज्ञाता क्या ?	निष्कल पुरुष ज्ञाता है।
१०. अज्ञ क्या है ?	प्रकृति अज्ञ है।
११ क कौन है ?	पुरुप क है।
१२. कौन तपस्वी है ?	प्रकृति तपस्वी है।
१३ अतपस्वी कौन है ?	पुरुप अतपस्वी है।
१४. सूर्य कौन है ?	अव्यक्त प्रकृति सूर्य है।
१५ कौन अतिसूर्य है ?	निष्कल पुरुष अति सूर्य है।
१६. विद्या क्या है ?	पुरुष विद्या है।
१७. अविद्या क्या है ?	प्रकृति अविद्या है।
१८. वेद्य क्या है ?	पुरुष वेद्य है।
१९. अवेद्य क्या है ?	अव्यक्त प्रकृति अवेद्य है।
२० चल क्या है ?	सृष्टि और सहार की कारणभूत प्रकृति चल है।
२१. अचल क्या है ?	सृष्टि और प्रलय का कर्ता पुरुष ही

अचल है।

२२ क्षय क्या है ?	प्रकृति क्षय है।
२३ अक्षय क्या है ?	पुरुष अक्षय है।
२४. विनाशशील क्या है ?	प्रकृति विनाशशील है।

प्रश्नो का उत्तर देने के बाद याज्ञवल्य ने इतना और कहा, "आन्वीक्षिकी विद्या सहित वेद विद्यारूपी धन का उपार्जन करके, प्रयत्नपूर्वक नित्यकर्म में सलग्न रहना चाहिए। सभी वेद एकान्ततः स्वाध्याय और मनन करने के योग्य माने गए हैं। गन्धर्वराज ! समस्त भूत जिसमें स्थित है, जिससे उत्पन्न होते है और जिसमे लीन हो जाते है, उस वेदप्रतिपाद्य ज्ञेय परमात्मा को जो नही जानते, वे परमार्थ से भ्रष्ट होकर जन्मते और मरते रहते है।

"सागोपाङ्ग वेद पढकर भी जो वेद द्वारा जानने योग्य परमात्मा को नही जानता, वह मूढ केवल वेदो का बोझ ढोनेवाला है। हे गन्धर्वराज, प्रकृति जड है। इसलिए उसे पच्चीसवा तत्त्व जीवात्मा तो जानता है, किन्तु प्रकृति जीवात्मा को नही जानती। जीवात्मा जाग्रत आदि अवस्थाओ में सब कुछ देखता है। सुषुप्ति और समाधि अवस्था में कुछ भी नही देखता तथा परमात्मा सदा ही छब्बीसवें तत्त्वरूप में अपने आपको, पच्चीसवें तत्त्व रूप जीवात्मा को और चौबीसवें तत्त्व रूप प्रकृति को भी देखता रहता है।"

प्रकृति के लिए चतुर्विंश, जीव के लिए पञ्चविंश और परमेश्वर के लिए षड्विंश, ये नई सज्ञाए सेश्वर साख्य दर्शन में गुप्त युग मे बनाई गई। लिङ्गपुराण मे भी इनका प्रयोग हुआ है—

इह षड्विंशको ध्येयो ध्याता वै पञ्चविंशक ।
चतुर्विंशकमव्यक्तं महदाद्यास्तु सप्त च ॥
(लिङ्ग पु० १ । २८ । ७)

अध्याय ३०७ में पञ्चशिख ने जनक को मृत्यु के अतिक्रमण का उपाय बताया। यो तो जरा और मृत्यु की निवृत्ति नही होती, पर ज्ञान से उनकी निवृत्ति संभव है।

अब यह प्रश्न उठाया गया कि गृहस्थ धर्म का त्याग किये बिना भी क्या मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ? इस विषय मे भिक्षुकी सुलभा और धर्मध्वज जनक के संवाद का वर्णन है (३०८।११-९१)। यह संवाद बहुत लम्बा है और सुलभा की बुद्धि मानो रेडियम की ढली है। उसकी चिंगारिया छिटक कर बार-बार ऊपर आती है। वह योगविद्या और ब्रह्मतत्त्व को जानने वाली है। वह मिथिलापुरी मे आई। राजा ने आश्चर्य से उसके यौवन और कोमलाङ्गो को देखा। राजा ने उसे अन्नादि से तृप्त किया। तब सुलभा ने ब्रह्मदर्शन के विषय मे प्रश्न करना चाहा और वह अपनी योगशक्ति के प्रभाव से जनक की बुद्धि में प्रविष्ट हो गई। राजा जनक से प्रश्न करने के लिए उद्यत हो उसने अपने नेत्रो की किरणो द्वारा उनके नेत्रो की किरणो को सयत करके योगबल से उनके चित्त को वश मे कर लिया। श्री जनक ने पूछा, "किसी से पूछे बिना उसके शास्त्रज्ञान, अवस्था और जाति के विपय मे सच्ची बात नही मालूम होती। अतः मेरे साथ जो तुम्हारा समागम हुआ है, इस अवसर पर इन सब विषयो की जानकारी के लिए यथार्थ उत्तर जानना आवश्यक है। मैने पूर्व समय मे मोक्षज्ञान जैसा और जिस गुरु से प्राप्त किया था, उन दोनो का परिचय आप मुझसे सुनें। मेरे गुरु योगी पञ्चशिख थे। साख्यज्ञान, योगविद्या और राजधर्म इन तीन प्रकार के मोक्ष मार्ग मुझे गुरुदेव से प्राप्त हुए थे। वह साख्यशास्त्र के पूर्णज्ञाता थे और सारा सिद्धान्त उन्हे यथावत् ज्ञात था। उन्होने एक वर्षाकाल मेरे यहा बिताया। उन्होने मुझे त्रिविध मोक्ष धर्म का श्रवण कराया है, परन्तु राज्य छोड़ने को आज्ञा नही दी है।"

मोक्षधर्म के इस प्रवाह मे साख्यमत का विवेचन कुछ विस्तार से आया है। इसमे चार बडे आचार्यो ने भाग लिया। १—वसिष्ठ-जनक संवाद (अ० २९१-२९७), २—याज्ञवल्क्य-जनक (दैवराति) संवाद (अ० २९८-३०६), ३—पञ्चशिख जनक संवाद (अ० २११-१२; ३०७-८), ४—कपिल और आसुरि सवाद (यह कुम्भकोणम् सस्करण मे है किन्तु पूना सस्करण मे प्रक्षिप्त है। मोक्षधर्म परिशिष्ट १, अध्याय २९)। आसुरि पंचशिख के

गुरु और कपिल के शिष्य थे। साख्य दर्शन के इतिहास में उनका ऊंचा स्थान है। उनका मत इस प्रकार था—

अव्यक्त और व्यक्त दोनो के सयोग से सृष्टि हुई। सत्त्व, रज, तम ये प्रधान अथवा प्रकृति है। अव्यक्त अप्रतर्क्य, अपरिमेय और अग्राह्य है। अव्यक्त से गुणो का अविर्भाव होने से व्यक्त प्रकृति अस्तित्व मे आती है। अव्यक्त ईश्वर सब बीजो का अधिष्ठान है। इस अव्यक्त की सलिल, अमृत, अभय, अक्षर, अज, जीव आदि सज्ञाएं है। बुद्धि व्यक्ताव्यक्त है। सत्ता, स्मृति, मेघा, व्यवसाय, समाधि उसके नाम है। बुद्धि से अहंकार और अहकार से पच महाभूत और एकादश इन्द्रियो की उत्पत्ति हुई। प्राचीन परम्परा मे इनके नामान्तर आदित्य, अश्विनी और नक्षत्र है। ये २३ तत्त्व हुए, चौबीसवा प्रकृति और पच्चीसवा अव्यक्त है। ज्ञात होता है कि यह कोई पुरानी ज्ञान परम्परा थी, जो काल पाकर लुप्त हो गई। किन्तु इसमें साख्य का सिद्धान्त स्फुट है।

साख्य परम्परा में पचशिख का मत सबसे प्रबल था। अध्याय २११-१२ और ३०७-८ में उसका उल्लेख है। ब्रह्मवादिनी सुलभा और जनक के सवाद रूप में उसी का विस्तार है। २११-१२ में उसे जनक-पञ्चशिख सवाद कहा गया है। जनक ने पंचशिख को साख्यमुख्य कहा है और यह भी बताया है कि पचशिख ने उन्हें साख्यमार्ग का उपदेश देकर भी राज्य छोडने को नही कहा। जनक के कथनानुसार आचार्य पचशिख ने उन्हें तीन प्रकार की निष्ठाए बताई थी—१. ज्ञाननिष्ठा, २ कर्मनिष्ठा, ३. कुटुम्बी गृहस्थ की निष्ठा। लोकोत्तर ज्ञान और कर्म का सब प्रकार से त्याग ज्ञाननिष्ठा है। केवल कर्म का आश्रय कर्मनिष्ठा है। तीसरी निष्ठा में यम-नियम, परिग्रह आदि का आश्रय लेकर कुटुम्बियो के समान जीवन बिताया जाता है। यह त्रिविध मोक्षमार्ग है। ज्ञात होता है, ये तीन निष्ठाएं या तीन प्रकार का मोक्षमार्ग क्रमश ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यो के लिए था, जिसका पालन मिथिला के जनक वश मे किया जाता था। अकिंचन बनने

से मोक्ष नही होता और सब कुछ रखने से बंधन नहीं होता (आकिंचन्ये न मोक्षोऽस्ति कैंचन्ये नास्ति बन्धनम्। ३६०।५०)।

पंचशिख आचार्य क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के भेद को मानते थे। वह जातिनिर्वेद और कर्मनिर्वेद को स्वीकार करते थे। वह स्वभाव को भी स्वीकार करते थे। सुख-दुःख और पंचतन्मात्राओं की सत्ता भी उन्हें स्वीकार थी। वे मन का अस्तित्व और त्यागशास्त्र को भी मानते थे। सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों को भी मानते थे। शरीर के विषय में उनकी परिभाषा थी कि यह ३० कलाओं से बना है। वे इस प्रकार हैं—

एक विंशश्च दश च कला: संख्यानतः स्मृताः।

१. शब्द, २. स्पर्श, ३. रस, ४. रूप, ५. गन्ध, ६-१०. पंचेन्द्रिय, ११. मन, १२. बुद्धि, १३. सत्त्व, १४. क्षेत्रज्ञ, १५. वासना, १६. पृथक्-पृथक् कलाओ की समग्रता, १७. प्रकृति, १८. व्यक्ति, १९. सुख-दुःख, जरा-मृत्यु, लाभ और हानि, प्रिय-अप्रिय द्वन्द्वों का योग, २०. काल, २१-२५. पंच महाभूत, २६. सद्भाव, २७. असद्भाव, २८. विधि, २९. शुक्र, ३०. बल। इस प्रकार ये सारी कलाएं जहा एकत्र हों, उसे शरीर कहते है। चरक संहिता मे भी पंचशिख का मत उल्लिखित है, उसमें पंच तन्मात्राओ का अभाव है। पुरुष को अक्रिय और निर्गुण नही माना गया। ब्रह्मपद की प्राप्ति मोक्ष है। अश्वघोष ने बुद्ध और अलार कालाम के संवाद में सेश्वर साख्य का उल्लेख किया है। ज्ञात होता है कि सांख्य की नई विशेषता प्रथम शती ई० के लगभग आरम्भ हो गई थी। कोई स्थूल दार्शनिक इन कलाओं को व्यक्त प्रकृति और कोई अव्यक्त प्रकृति मानते है। ज्ञात होता है कि आगे चलकर साख्य मत ने बौद्ध दर्शन के अनुसार अपने मत को संभाला और जहा तक संभव हुआ, पुरुष से स्वतंत्र अव्यक्त या प्रधानसंज्ञक प्रकृति का मत स्वीकार किया। यही मत पंचशिख आचार्य के नाम से विख्यात हुआ। जनक और सुलभा संवाद मे जनक ने स्पष्ट पंचशिख का नाम लेकर जो मत रक्खा है, वह प्राचीन काल से परम्परा प्राप्त पंचशिख का सेश्वर सांख्य मत था। उसके बाद भिक्षुणी सुलभा

ने पंचशिख का नाम लेते हुए जो कहा है, वह नवीन सांख्य मत ज्ञात होता है, जिस पर बौद्ध दर्शन का गहरा प्रभाव पडा था और जिसमें जीव, चैतन्य या ईश्वर की सत्ता का निराकरण था। वस्तुत महाभारत की इस सामग्री का सबध सस्कृतोत्थान युग से था, जब ब्राह्मण और बौद्ध दार्शनिक अपने-अपने दार्शनिक मतो का संतुलन कर रहे थे और दातेदार पहियो की भाति अपने तर्कों का मेल बैठा रहे थे। (अ० ३०८)

अध्याय ३०९ में शुकदेव को वैराग्य उत्पन्न होने की कथा है और अध्याय ३१०-३२० तक शुकचरित का वर्णन है। शुकदेव जी को ज्ञान सीखने के लिए मिथिला के राजा जनक के पास भेजा गया। वहा उनकी कडी परीक्षा ली गई। अन्त में उन्हें ब्रह्मज्ञान हुआ। इसे पाकर वह अपने पिता व्यास के आश्रम मे बदरीनाथ गये। इस प्रसंग में मोक्षधर्म के लेखक ने लिखा है कि स्वामी कार्तिकेय ने अपनी शक्ति वहा गाड दी और यह चुनौती भी दी थी कि जो मुझसे अधिक शक्तिशाली हो, वह उस शक्ति को उखाड दे। कोई दूसरा देवता उसे उठा न सका। केवल विष्णु ने उसे हिला दिया। यह बहुत विचित्र कहानी है, किन्तु पुरातत्त्व की दृष्टि से इसमें सत्याश है। आज भी बदरीनाथ से ८ मील पर जोशीमठ के पाण्डु-केश्वर मन्दिर के आगन में वह शक्ति गडी हुई है। वह ऊचाई में काफी बड़ी है और उस पर गुप्त लिपि में एक लम्बा लेख भी है। हो न हो मोक्षधर्म के लेखक को उसका पता था और उसका यह वर्णन उसी पर घटित होता है।

: ९४ :

नारायणीय पर्व

मोक्षधर्म पर्व मे कितने ही ऊचे विषयो का अवलोकन हम कर चुके है, जिनका धरातल काफी कसा हुआ था। किन्तु पिछले कुछ अध्यायो में

हमे सामग्री की शिथिलता दिखाई पडी थी। अब हम एक ऐसे प्रकरण की व्याख्या करने जा रहे है, जो महाभारत तो क्या सारे भारतीय वाङ्मय में अपना अनन्य स्थान रखता है। इस प्रसंग का नाम नारायणीय पर्व है। इसमे १९ अध्याय (३२१-३३८) और एक सहस्त्र श्लोक है। यह किसी महान् कवि की रचना है। इसकी विलक्षणता यह है कि इसमें भारत के नाराणीय धर्म और सासानी ईरान के पहलवी धर्म, इन दोनो का विचित्र समन्वय किया गया है। यह प्रकरण किसी ऐसे प्रज्ञाशील व्यक्ति ने ईसा की प्रथम तीन शतियों मे संग्रहीत किया जब ईरानी धर्म के देवता और उसके सिद्धान्त घर-घर में व्याप्त हो गये थे। यह पर्व बहुत उद्धृत किया गया है, किन्तु उसका ठीक मर्म पहले कभी नही समझा गया। अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के गोहाटी अधिवेशन के सभापति के भाषण मे पहली बार हमने इन अर्थों का कुछ सकेत किया था।

कल्पना कीजिये कि मध्यदेश, बदरीनाथ और श्वेतद्वीप—ये नारायणीय धर्म के तीन केन्द्र थे। नारद मध्यदेश से बदरीनाथ गये। वहां उन्होने तप करने हुए नर-नारायण से एकान्तिन धर्म के विपय मे पूछा जो नारायणीय धर्म की एक शाखा थी। उन्होने नारद को श्वेतद्वीप मे जाने की सलाह दी।

एकान्तिन धर्म क्या था ? वैसे तो वैष्णावो के कई भेद थे, जैसे पाचरात्र, वैखानस, एकान्तिन, सात्वत, भागवत और वैष्णव। पर धीरे-धीरे इनकी विभाजक रेखाए मन्द हो गईं और सभी भागवत कहलाने लगे। बाण ने हर्षचरित मे पांचरात्र, भागवत, वैखानस और सात्वत का पृथक् उल्लेख किया है।

इनमें सात्वत चतुर्व्यूह के, एकान्तिन नरनारायण के, पाचरात्र चक्रपुरुष के, वैखानस गृहस्थ जीवन के वाद वानप्रस्थ आश्रम को मानते थे। एकान्तिन नरनारायण ऋषि के अनुयायी थे और नर का अन्तभवि नारायण मे मानते थे। यही उनकी एकान्तिन संज्ञा का कारण था। नारद जी बदरीनाथ

के पास गन्धमादन पर्वत पर गये, जहा नरनारायण नामक चोटियो पर ये दो ऋषि तपस्या कर रहे थे।

नारद जी ने वहा पहुच कर जिन लोगो से भेंट की, उन लोगो का वर्णन ठीक ईरानी धर्म के दस्तूरो पर घटित होता है। वह किसी भी प्रकार भारतीय नही है। उनकी यह विशेषता इस प्रकारण में लगभग पाच-छह बार लिखी गई है। एक ही प्रकार के वर्णन को कई तरह सपुटित करके पाच-छह बार दुहराया गया है। महाभारत की यह जानी पहचानी शैली (जक्स्टापोजिशन) थी।

१. उन्हें श्वेता. पुमांसा या गोरे रग का कहा गया है (३२२।९)। इसे ही अन्यत्र चन्द्रवर्चसः मानवाः (३२२।९) या चन्द्रमा के रंग के गोरे पुरुप कहा हैं। और भी, श्वेतांश्चन्द्रप्रतीकाशान्सर्वलक्षणलक्षितान् (३२३।३१-३२) कहा गया है। वे अत्यंत श्वेत वस्त्र पहनते थे और ऐसा कोई अन्न नही खाते थे, जिसमें हिंसा हो।

२ वे श्वेतद्वीप के निवासी एकान्त भाव के जानने वाले थे—एकान्तभावोपगताः (३४९।२५-२६), एकान्तिनस्ते पुरुषाः श्वेतद्वीप-निवासिनः (३१३।२६)। यहा एकान्त धर्म का तात्पर्य अहुरमज्द के धर्म से था, जिसके लिए भारतीय शब्द ब्रह्म या देवहरिमेधस था।

३ वे चन्द्रवर्चस पुरुष पूर्व और उत्तर की ओर मुह करके हाथ जोडे हुए मानस जप कर रहे थे—

नित्याञ्जलिकृतान्ब्रह्म जपत' प्रागुदङ्मुखान्।
मानसो नाम स जपो जप्यते तै महात्मभि ॥

उनके नेत्रो की पलकें स्थिर थी (निष्पन्दहीना. ३२२।८), जैसा कि दस्तूर सूर्य की ओर दृष्टि के समय आज भी करते है।

४ वे अनशन अर्थात् निराहार व्रत के अनुयायी थे। आगे कहा गया है कि इस प्रकार के श्वेत पुरुष फेनपाचार्य (३२५।१००) थे। श्वेतद्वीप निवासी इन पुरुपो को मोक्ष मिलता है।

५. वे उत्तम-उत्तम सुगधियो (सुगन्धिनः, ३२२।१३०; ३२२।९;

३२३।२५) के शौकीन थे, जिन्हे वे वस्त्रों और शरीर मे लगाते थे। उनं दस्तूर या Magi पुरोहितो के वंशज आज भी बम्बई तट पर मानस जप करते देखे जा सकते है।

६. वे आंख बंद किये रहते थे और सब पापो से निवृत्त माने जाते थे। उनके श्वेत वस्त्र और श्वेत वर्ण मानसिक पवित्रता के सूचक थे। उन्हें निरिन्दिय और पचेन्द्रियविविर्जिता: कहा गया है। इसका मुख्य लक्ष्य उनके ब्रह्मचर्य व्रत पर था। वे विवाह नही करते थे।

(अतीन्द्रियाश्चानशनाश्च तत्र निष्पन्दहीनाः सुसुगन्धिनश्च ।३२२।९)

इन लक्षणों को सुनकर युधिष्ठिर ने पुनः पूछा कि हमारे यहां जो पुरुष मुक्त हो जाते है, उनमे तो ये गुण नही मिलते, जो आपने अभी श्वेत द्वीप के लोगो के बारे मे कहे है। वहा ऐसे लोगों का जन्म कैसे हुआ? (३२२।१३—अतिन्द्रिया निराहारा अनिष्पदा: सुगधिनः)। पापरहित होने के लिए जिस सात्वत विधि का उल्लेख है, वह मनसा, वाचा, कर्मणा शुद्ध बनने का उपाय था, जो सर्वांश मे ईरानी धर्म से मिलता है—

१. वाक्,—सूक्त, = हूख्त

२. मन:शुद्धि,—सुमत = हुमत

३. कर्मशुद्धि—हुवर्श्त

इन तीन विशेषताओं को संस्कृत भाषा में इस प्रकार स्पष्ट कहा गया है—

नानृता वाक्समभवन्मनो दुष्टं न चाभवत्।
न च कायेन कृतवान्स पापं परमण्वपि॥ (३२२।२५)

अर्थात् वाक् मे अनृत का अंश नही था। मन मे कोई दुष्ट भाव नही था और शरीर से परमाणु बराबर भी पाप नही करते थे।

सप्तचित्रशिखण्डी मुनि

वैदिक धर्म की मान्यता थी कि एक अङ्गिरा ऋषि सृष्टि के लिए सात अङ्गिरा बन गये। ईरानी धर्म की मान्यता है कि एक अहुरमज़्द

ने सात अमेपस्पेन्द या अमृत आत्माओ का निर्माण किया। उन्हें संस्कृत भापा में चित्रशिखण्डिन (३२२।२७) कहा गया है। यह शब्द यहा और विष्णुधर्मोत्तर पुराण मे भी प्रयुक्त हुआ हैं। सस्कृत चित्र ईरानी चिथ्र का रूप है जिसका अर्थ पुत्र होता हैं। अमिप् का अर्थ है अमृत और स्पेन्द का अर्थ श्वेत। अर्थात् अमृत का श्वेत देवता।

ये सृष्टि की प्रक्रिया को चलाने वाले आधारभूत सात मुनि थे। इसीलिए सस्कृत में उन्हे शिखण्डिन' कहा गया है। मोक्षधर्म मे उन सातो के अलग-अलग नाम नही दिये गये, किन्तु ईरानी मान्यतानुसार वे इस प्रकार हैं। अहुरमज्द या देव हरिमेधस् उनके निर्माण कर्ता हैं। किन्तु अहुरमज्द का नाम पुन उन सातो में पहली वार लिया जाता है—

१. अऊहर मज्द—यह देख कर आश्चर्य होता है कि इन सातों की सूची में अऊहर मज्द को पहला स्थान दिया गया है, जैसे वैदिक मत में अङ्गिरा को सात ऋपियो मे मुख्य माना गया—

विरुपास इदृपयस्त इदूगम्भीरवेपस.। ते अंगिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥ १०।६२।५ ऋग्वेद।

२ वोहूमन्—(वसुमनस्)

३. अर्द वहिश्त—(ऋतवसिष्ठ)—सृष्टि रचना में यह सवसे प्रभावशाली है।

४. शतवेरो—(क्षत्रवीर)

५. स्पेन्दर मद् (श्वेतामृत)

६. होर्वदद् (स्वरतात्)

७ अमेरो दद् (अमृतात्)

इनमें स्पेन्दर मद् स्त्री और शेप पुरुष है। वे सभी शक्ति और प्रभाव में अहुरमज्द के तुल्य हैं। किन्तु फिर भी सृष्टि का मूल कारण अहुरमज्द ही है और उसका प्रभाव अचिन्त्य है। भारतीय लेखक ने ब्रह्मा जी के पुत्र सात आङ्गिरस ऋषियो को सप्त चित्रशिखण्डियो के समकक्ष रक्खा है, जिनके नाम ये थे—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस, पुलस्त्य, पुलह,

क्रतु और वसिष्ठ। इन सातों ने एकमति होकर शास्त्र बनाया (तैरेक मतिभिर्भूत्वा यत्प्रोक्तं शास्त्रमुत्तमम्। ३२२।२६)।

यह शास्त्र कौन था और उसका वर्ण्य विषय क्या था ? अपने यहां यह शास्त्र महाभारत था, जो शतसाहस्री (या एक लाख श्लोको की) संहिता नाम से परिचित माना जाता था (कृतं शतसहस्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम्। ३२२।३६)। सासानी धर्म मे यही स्थान दीनकर्त का था। यहां कहा है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति विषयक जितने धर्म है, यह शास्त्र उन सबका स्रोत था और इसके अन्त मे मोक्ष का वरदान किया गया था (तत्र धर्मार्थकामा हि मोक्षः पश्चाच्च कीर्तितः। ३२२।३०)। दोनो का विषय लोकतन्त्र का समस्त व्यवहार था। अमेषस्पन्दो ने लोको का मानस चिन्तन करके इस शास्त्र की रचना की। जो अदृश्य नारायण थे, उन्होंने व्यास के रूप मे शरीर धरकर इस शास्त्र का निर्माण किया। सासानी मान्यता के अनुसार अदृश्य अहुरमज्द देव ने पहले अमेषस्पन्द के रूप मे मूर्त या प्राकृत शरीर रखकर अन्य अमेषस्पन्दो के साथ इस शास्त्र की रचना मे सहयोग दिया। दीनकर्त विशुद्ध सासानीय युग की रचना है, जो अपने यहां गुप्त काल का समसामयिक था, जब महाभारत के बहुत बडे अश की रचना हुई, जैसा हमने बहुत स्थानो पर पहले कहा है। महाभारत मे त्रिदेवों के साथ एक ब्रह्म का सिद्धान्त प्रतिपादित है। दीनकर्त मे भी अवेस्ता का देवगाथा-शास्त्र बहुत प्रकार से उपबृंहित किया गया है और सबसे ऊपर अहुरमज्द की महिमा है। उसमे अध्यात्म का स्वर सर्वोपरि है।

दीनकर्त मे अहुरमज्द को सर्व देवाधिदेव के रूप में वर्णित किया गया है। वह अत्यन्त विशुद्ध और सर्वातिशायी कल्पना है, जैसी अन्य सासानी साहित्य मे उपलब्ध नही होती। दीनकर्त मे प्राचीन अवस्ता साहित्य का पह्लवी अनुवाद तो है ही, उसमे सासानी ईरान की सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और व्यावहारिक संस्थाओ का भी विस्तृत वर्णन है। दोनों शास्त्रों मे नारायण, देव, हरि और प्रभु को पर्याय माना गया है (श्लोक ३१)।

ब्रह्मा की पुत्री देवी सरस्वती ऋषियों में प्रवृष्ट हुई, और उधर ऋता देवी सरस्वती या अशदेवी (प्रथमसर्गजा) अमेपस्पन्दो में प्रविष्ट हुई। दोनों शास्त्र ऋपियो से भावित है। सपूर्ण लोकतन्त्र का इसी शास्त्र से प्रवर्तन हुआ और सर्वत्र इसका प्रमाण माना गया (श्लोक ८६)। जैसे महाभारत में सव वेदों का प्रमाण माना गया, ऐसे ही दीनकर्त में पूर्व अवेस्ता वाङ्मय का।[1]

इन दोनों शास्त्रो में वृहस्पति और उशना के राजशास्त्रो का प्रमाण है (३२२।४२)। वृहस्पति देवो के और उशना असुरो के गुरु थे। देव हरिमेधस् का वार-वार उल्लेख आया है (३२३।११, ३२६।२८, ३३७।५४, ३३५।८)। यह अहुरमज्द का संस्कृत रूप था। सासानी भाषा में उसे हर्मुज कहा जाता था। इसी का सस्कृत में हरि हुआ। यह उल्लेखनीय है कि नारायण के अर्थ में हरि शब्द का प्रयोग गुप्त युग के पूर्व के किसी ग्रन्थ में नही पाया जाता। वहा हरि शव्द तो है, किन्तु इन्द्र या घोडे के अर्थ में आया है, विष्णु के अर्थ में नही, और जो एक-दो स्थल विष्णु वाची है भी, वे सदिग्ध हैं। इतने वडे महाभाष्य या वैदिक साहित्य में भी हरि शव्द विष्णु के लिए नही आता।

राजा वसु ने अश्वमेघ यज्ञ किया, पर वह अहिंसावादी था। इसलिए देव हरिमेधस् ने अप्रत्यक्ष दर्शन देकर उसके हविर्भाग को ग्रहण किया (अदृश्येन हृतो भागो देवेन हरिमेधसा। ३२३।१२)। वसु की पहचान निश्चित नही, यद्यपि कुषाण सम्राटो के उत्तर काल में वसुनामाङ्कित राजा के वहुत से सिक्के अन्तर्वेदी से ईरान की सीमा तक मिले है। लिखा है कि अहिंसक यज्ञ से वृहस्पति को क्रोध हुआ, किन्तु उन्हे समझा दिया गया कि हिंसा इस युग का धर्म नही है। तव एकत, द्वित और

---

१ दीनकर्त का मूल पह्लवी वृहत् संस्करण, रोमन प्रतिलिपि और कहीं-कही अनुवाद के साथ केंगेनपाल लन्दन से प्रकाशित हुआ था, जो १९ जिल्दों तक मैंने देखा है। —लेखक

त्रित नामक तीन सदस्यों ने कहा। इनके विषय मे भारत और ईरान दोनों धर्मों में मान्यता थी।

इन्होने कहा कि श्वेत द्वीप मे क्षीर समुद्र के उत्तर चन्द्रवर्ण या चन्द्र-वर्चस् पुरुष रहते है, जो एकान्तिन् या एकान्त धर्म के मानने वाले हैं। ये अहुरमज्द के अनुयायी थे। वहां हमने चन्द्र के समान गौर वर्ण महात्माओ को ब्रह्म या अहुरमज्द का मानस जप करते हुए देखा। उस द्वीप मे तेज प्रधान है और वे पुरुप समतेज वाले है। कोटि-कोटि सूर्य की प्रभा हमें वहां दिखाई पडी। वे पुरुष बार-बार नम· का उच्चारण करते थे।

संस्कृत नमः से ही फारसी नमाज की व्युत्पत्ति हुई है। विष्णु और अहुरमज्द दोनो के लिए 'जितं ते' यह साकेतिक शब्द चालू हुआ। भागवत में और कुछ अभिलेखो में यह शब्द आया है।

ब्रह्म भाव मे अनुष्ठित वे सब मानव एक जैसा भाव रखते थे और वह भाव अहुरमज्द या देवहरिमेधस् के एकत्व का था। सासानी युग मे ईश्वर के लिए अहुरमज़्द यह नाम सर्वोपरि था। असु का ईरानी रूप अहु था। उससे अहु सम्पन्न देव अहुर कहा गया, जो वैदिक असुर के सम-तुल्य था। अहुरमज्द मे मज्द शब्द का संस्कृत पर्याय मेधस् माना गया, किन्तु वैदिक युग में असुर महत् शब्द मिलता है और महत् ही मज्द का मूल रहा होगा। वस्तुत· सासानी युग मे अहुरमुज, अहुरमज, हुर्मुज—ये कई रूप प्रचलित हो गये थे। हरिमेधस् रूप जब एक बार प्रचलित हुआ, तो संस्कृत साहित्य मे वही मान लिया गया, जैसा अध्याय ३२५ मे और कई पुराणो में हम देखते है।

यह भी कहा गया कि हमारे जो देवाधिदेव है, उन्हें सशरीर रूप मे कोई नही देख सकता, इसलिए आप लोग वापस जाइये। जो एकान्त भक्त है वही उनके दर्शन पा सकता है। वे प्रभामण्डल से युक्त है।

यह अहुरमज्द की प्रभा की ओर सकेत है जिसे ईरानी मत मे हर्र या फर्र (सं० स्वर) कहा जाता है। इस प्रकार वसु का यज्ञ समाप्त हुआ (अ० ३२३)। अध्याय ३२४ मे अज शब्द के विषय में देवो और ऋषियो

का विवाद लिया गया है। देवो ने अज का अर्थ छाग या बकरा लिया और ऋषियो ने बीज या धान्य लिया। ये ऋषि ईरानी दस्तूर थे, जो अहिंसक यज्ञ के पक्षपाती थे। इस विवाद में अंतिम निर्णय यही निकला कि अज का अर्थ पशु से नही बीज से है।

अध्याय ३२५ में वह गद्य स्तोत्र है, जिसे नारद जी ने देवदेव अहुर-मज्द के लिए पढा। इससे १७१ नाम और विशेपण है। यह स्तोत्र सस्कृत साहित्य में विलक्षण है। इस प्रकार लम्बी नामो की सूचिया दीन-कर्त में भी पाई जाती है। इस सूची में से कुछ नाम ध्यान देने योग्य हैं—श्वेत, चन्द्रप्रभ, महाभासुर, सप्तभासुर, हरिहय = हयग्रीव, पंचकालज्ञ, पंच-रात्र, पचयज्ञधर, सज्ञासज्ञ, तुपित, सामिकव्रतधर, आदि।

अध्याय ३२६ में साख्य दर्शन का छीटा देते हुए पुरुप को पंचविंशक कहा गया है। सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण हैं। ये सब शरीरो में रहते है। इन गुणो को क्षेत्रज्ञ भोगता है, किन्तु वह स्वयं इनसे नही भोगा जाता।

अध्याय ३२७ मे पुन श्वेतद्वीप और वहा के परम देवदेव के उपदेश से दर्शन का वर्णन किया गया है। इसमें पहले ही की भाति तीसरी बार श्वेतद्वीप का वर्णन है।

सन, सनत्, सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और कपिल ये सात ऋषि सृष्टि के आरम्भ में हुए। यह सप्त अमेषस्पन्द की ओर सकेत हैं, जिन्हे स्वयमागतविज्ञान कहा है (स्वयमा ' वज्ञानाः ३२७।६५)।

अध्याय ३२८ मे गुणकर्म के आधार पर भगवन्नाम निरुक्ति कही गई है, जिसमें नारायण नाम को निरुक्ति इस प्रकार से की गई है—

> आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
> अयनं मम तत्पूर्वमतो नारायणो ॥ (२८।३५)
> वासुदेव—
> छादयामि जगद्विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः।
> सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् ॥ (३२८।३६)

अग्नि और सोम ये दोनो एक ही योनि है, जिनसे चराचर जगत उत्पन्न हुआ है (अग्निसोमेन संयुक्तं एकयोनिमुखं कृतम् । ३२८।५२)।

अध्याय ३२९ में प्रश्न है कि अग्नि और सोम दोनो अलग-अलग है। फिर भी इन्हे एकयोनि क्यो माना जाता है ? यह वैदिक प्रश्न था जिसे भागवतों ने नारायणीय धर्म के भागवत दृष्टिकोण से स्पष्ट किया है। आरम्भ मे अत्यन्त सुन्दर गद्य है जो ऋग्वेद के नासदीय सूक्त का साराश ज्ञात होता है।

सदसद, व्यक्ताव्यक्त, ब्रह्मक्षत्र की भांति अनिसोम भी सृष्टि प्रक्रिया में आवश्यक द्वन्द्व है। अग्नि के रूप मे विष्णु सब के भीतर प्रविष्ट होकर प्राणों को धारण करता है। यहां त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप और दधीचि की कथा गद्य में कही गई है। दधीचि की हड्डियो से बनाये हथियारो से इन्द्र ने विश्वरूप का बध किया। विश्वरूप के तीन मस्तक थे—सत्त्व, रज, तम। विश्वरूप का यह लम्बा उपाख्यान इस प्रसंग मे आगन्तुक है, और नारायणीय पर्व का जो प्रवाह चल रहा था उससे अनमोल है।

अध्याय ३३० मे वैदिक शाखाओ का संक्षिप्त उल्लेख है। उसके बाद रुद्र और नारायण का मेल बताया गया है।

अध्याय ३३१ में श्वेतद्वीप की कथा का सूत्र फिर जोडा गया है। नारदजी वहा से लौटकर पुन॰ बदरीनाथ में नरनारायण के पास आये। नरनारायण के वर्णन में उन्हें जालपाद और जालभुज कहा गया है। इसका अर्थ यह था कि हाथो और पैरों की अंगुलियो के बीच में त्वचा जुडी रहती थी, जैसे बत्तख की अगुलियो मे रहती है। यह गुप्तकालीन प्रतिमा शास्त्र का लक्षण है और ऐसी मूर्तियां भी मिली है। मंकुवार से प्राप्त बुद्धमूर्ति में यह लक्षण स्पष्ट है। कालिदास ने भरत के हाथ को जालागुंलि लिखा है।

अध्याय ३३२ मे नरनारायण के मुख से ईरानी परम्परा का भागवत धर्म के साथ समन्वय कराया गया है। इसमे वोहुमन आदि छह देवात्मा-

धर्म की गूढ शब्दों में व्याख्या है। नारद उस व्रत को सीखकर वदरी-विशाल में आये और नारायण से उसे कहा।

अध्याय ३३३ में वाराह रूपधारी नारायण द्वारा पार्थिव पिण्डों की स्थापना का उल्लेख है। वे पिण्ड ही पितर रूप में परिवर्तित हुए। यहाँ सासानी धर्म के पितरो की ओर सकेत है, जिन्हें वे फ्रवषि कहते थे और जिनके लिए बहुत-सा विधि-विधान बरता जाता था। अर्दबिराफ नामक ग्रंथ में ईरानियो की पितृ पूजा का उल्लेख है। नारायणीय पर्व में नारद की कथा को महदाख्यान कहा गया है। इसमें धर्म के साथ साख्य-योग का पुट था।

अध्याय ३३५ में उसी पुराने सूत्र को पुनः जोडते हुए और अधिक स्पष्ट किया गया है। इसमे कहा गया है कि हरिमेधस या अहुरमज्द का एक रूप अश्वशिर है। जिन्हे यहा नरनारायण कहा गया है, वे ही हरि मेधस के रूप थे और उनका जन्म धर्मगृह या ईरानी आतिशगाह या अग्यारी में हुआ था। इसका आशय यह है कि वही अहुरमज्द की पूजा की जाती थी।

ब्रह्मा ने अपने सात जन्मो का उल्लेख किया है जिनमे पहला मानस जन्म वोहून् ज्ञात होता है।

श्वेतद्वीप और वहा के चन्द्रवर्चस् पुरुषो का काफी वर्णन हो चुका था। पाचवे सपुट में फिर उसका वर्णन किया गया (३२६। १७)—

प्रभामण्डल दुर्दृशः (३२३ । ४९), चन्द्रवर्चस : (६२६ । १८), सहस्रार्चिष (३२६ । ११७)।

अध्याय ३३६ में विष्णु के धर्मावतारो का वर्णन करते हुए एकान्तिक भावो का विवेचन किया गया है। हरि अर्थात् अहुरमज्द उन सबको प्रसन्न करते है जिनके हृदय मे उनके प्रति एकान्तिक भाव है। जो पाप-पुण्य से रहित है, वे चतुर्थ गति में पुरुषोत्तम को प्राप्त करते है। यह एकान्तधर्म नारायण को प्रिय है। एकान्तिन् पुरुषो की विशेष गति मै जानता हूं।

एकान्तिनों की चर्चा क्या है? इस का वर्णन नारद ने अर्जुन से किया था। नारायण के मुख से इसका मानस जन्म हुआ। ब्रह्मा ने एकान्त धर्म को दैव और पित्र्य दो भागो में बाटा। यहा ईरानी धर्म के २१ यजत और प्रवष या पितरो से तात्पर्य है। उसे फेनप या फेन का पान करने वाले आचार्यो ने प्राप्त किया। फेनपो से उसकी परम्परा वैखानसो मे आई। वैखानसों से सोम ने प्राप्त किया। सोम से पितामह ने इस धर्म को जाना। उसने रुद्र को दिया। रुद्र ने योगस्थित हो कर उसे वालखिल्यो को दिया। उनसे सुपर्ण नाम के ऋषि ने प्राप्त किया। यही त्रिसौपर्ण व्रत कहलाता है। ऋग्वेद मे भी इस सौपर्ण व्रत का उल्लेख है। यहा ईरानी धर्म के त्रिसौपर्ण और वैदिक धर्म के त्रिसौपर्ण का मेल वैठाया गया है। इसके बाद नारायण ने श्रवण से उत्पन्न सृष्टि को प्रकट किया। वही सात्वत धर्म है। ये संकेत सासानी धर्म में बद्ध हुए होने से स्पष्ट नही है। सृष्टि बन जाने पर ब्रह्मा ने देव हरिमेधस् को प्रणाम किया और उनसे इस प्रमुख धर्म को रहस्य, सग्रह और आरण्यक के साथ गृहीत किया।

और भी कितने ही नामों का उल्लेख करते हुए उस अग्रणी सात्वत धर्म की परम्परा का अवतरण कहा गया है। किन्तु हमने जिस पद्धति का संकेत किया है, उसके वहुत दूर तक अनुसरण की आवश्यकता है। यह दोनो धर्मो के तुलनात्मक अध्ययन पर निर्भर है। ऐसा करने पर ही महाभारत का यह पूरा प्रकरण समझा जायगा।

जो अपने को सात्वत कहते है, वे इस सनातन और दुर्विज्ञेय धर्म को जानते है। कोई इसे द्विव्यूह, कोई त्रिव्यूह, कोई चतुर्व्यूह कहते है। यह एकान्तिक धर्म है। एकान्तिव्रत को जानने वाले पुरुषो की संख्या वहुत नही है। अहिसक, आत्मवित् और सर्वभूतहित में लगे हुए एकान्तिक पुरुषो की सख्या यहा वहुत हो, ऐसी हमारी कामना है।

यहा यह कहा जा सकता है कि परमदेव ब्रह्म अहुरमज्द, नारद अवोप और व्यास जरथुष्ट के समतुल्य है।

: ९५ :

तेरहवां अनुशासन पर्व

(अ० १-१४६)

अनुशासनपर्व का पूना संस्करण अभी प्रकाशित नही हुआ है, अतः गीता प्रेस के सस्करण को ही यहा व्याख्या का आधार माना गया है। इसमे १६८ अध्याय है। पूना सस्करण मे १४६ अध्याय मूल मे रहेंगे। अनुशासन पर्व शान्तिपर्व से विस्तार में लगभग आधा है। मोक्षधर्म पर्व मे जिन महान् विषयो का अध्यात्म, धर्म और दर्शन के विषय में समास-व्यास शैली से वर्णन हो चुका था, उनके अतिरिक्त कुछ विषय ऐसे रह जाते थे जिनका परिचय देना भी गृहस्थियो के लिए आवश्यक था। उन्ही का संग्रह अनुशासनपर्व में है। अत इसे शान्तिपर्व का परिशिष्ट भाग ही कहना चाहिए। ये विषय इस प्रकार थे—

दान, व्रतोपवास, तीर्थ, श्राद्ध, विष्णु महिमा, शिव महिमा, ब्राह्मण महिमा, तप महिमा, गृहस्थ महिमा, यज्ञ महिमा आदि। इस प्रकरण में राजधर्म को भी फिर से ले लिया गया है (गीता प्रेस स० अ० १४६-१६८)। तथ्य यह था कि पुराण युग में जिन नये विषयो की उत्थापना हुई थी उनमें दान, व्रतोपवास, तीर्थ और श्राद्ध मुख्य थे। कभी-कभी चार वर्ण और चार आश्रम, सदाचार आदि की महिमा का भी छौंक पाया जाता था। उसी सामग्री को आधार मानकर अनुशासनपर्व का कलेवर पूरा किया गया है। इस प्रकार का दृष्टिकोण गुप्त युग में सामने आया और वही यहा उपलब्ध होता है।

दान धर्म

इस समय अपने शरीर के अर्पण को दान-धर्म की पराकाष्ठा माना जाता था। यहा उशीनर देश के राजा शिवि द्वारा कपोत की प्राण रक्षा के लिए अपने शरीर का मास देने की कहानी कही गई है (अ० ३०-३२)।

बौद्धों ने इसे शिवि जातक के रूप मे ग्रहण किया था। दिव्यावदान में, राजा चन्द्रप्रभ द्वारा शिरोदान की कथा आई है। वही रूपावती अवदान मे बालक की प्राण रक्षा के लिए रूपावती द्वारा अपने शरीर का मांस देने की कथा है। मोक्षधर्म में कपोत-कपोती द्वारा अतिथि की प्राण-रक्षा के लिए स्वशरीरार्पण की सुन्दर कहानी है।

दान का एक रूप उद्यान, जलाशय, कूप, प्रपा आदि का निर्माण था। मथुरा से प्राप्त लेखो मे इनका बहुधा उल्लेख आया है (प्रथम शती ई० से द्वितीय शती० ई०)। उसका यहा अध्याय ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५ और ९५ मे कथन है। सुवर्ण-जल आदि विभिन्न वस्तुओं का दान (अ० ६५) बहुत विस्तार से पुराणो मे आया है। छिट-फुट वस्तुओं के दान के विषय मे उसी के कुछ छीटे यहां पड़े है (६८, ६९, ९८, ९९-१००)।

अन्नदान, सुवर्ण, छत्र और उपानह, पुष्प, धूप, दीप, और उपहार के दान, शक्कर, तिल भूमि, गौ आदि के दान का विस्तार पुराणों मे पाया जाता है, जो गुप्त युग से लेकर मध्ययुग तक बहुत परिवर्धित होता रहा। व्यास और मैत्रेय ने भी दान को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इसी संवाद मे विद्वान एवं सदाचारी ब्राह्मण को अन्नदान की प्रशंसा, दान लेने और अनुचित भोजन करने का प्रायश्चित तथा पाच प्रकार के दानो का वर्णन है।

श्राद्ध कर्म इस युग का प्रिय विषय था—जिसका वर्णन अ० ८७-९२ मे आया है।

: ९६ :

व्रतोपवास

पुराणों के युग मे व्रतोपवास नामक नया प्रकरण बहुत पल्लवित हुआ। ब्रह्मा और भगीरथ के संवाद रूप में यज्ञ, तप तथा दान से भी उपवास या

अनशन की महिमा अधिक कही गई है। अनेक यज्ञो के करने का भी जो फल नही हैं, वह अनशन से प्राप्त होता है (अध्याय १०३–१०६)। यज्ञ द्रव्य-साध्य होते हैं, किन्तु धनहीन व्यक्ति को यज्ञ का फल उपवास से प्राप्त हो जाता है। प्रात काल के कलेवे और सायं काल के व्यालू के अतिरिक्त जो कुछ नही खाता उसे पाच वर्ष में सिद्धि हो जाती है। दूसरे, तीसरे, पाचवें, छठवें, सातवें दिन जो केवल एक समय १२ मास तक भोजन करे, वह अनेक यज्ञो का फल प्राप्त करता है। इस प्रकार के व्रतो का विधान प्राय पाशुपत आचार्य अपने शिष्यो के लिए करते थे। ये व्रत काल की अवधि वढाकर पन्द्रह दिन और एक मास तक के लिए किये जाते थे। उनके करने वाले व्रती और महाव्रती कहलाते थे। जो एक वर्ष तक केवल आठवें दिन एकाहार रहे, उसे वहुत लाभ होता है। उसका वर्ण कमल के समान हो जाता है। ऐसे ही ९ वें, १०,वें, ११ वें और १२ वें दिन एकाहार द्वारा वर्ष पर्यन्त उपवास का फल है। यही विकल्प है कि जिसकी जैसी शक्ति हो वह वैसा करे। जो अनशन करता है, वह सुधामृत का पान करता है और उसे सूर्य-चन्द्रलोक तक यश मिलता है। १२ माह तक जो एक समय भोजन करता है, उसे अमृत भोजन का सुख मिलता हैं।

इसी प्रकार २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, और २९ वें दिन वर्ष भर तक एक-आहार चलाने का महत्त्व है। अन्त मे मासोपवास का ही सबसे अधिक फल है। कुछ लोग तिथि विशेष को उपवास रखने का नियम धारण कर लेते है। जैसे द्वादशी को विष्णु के निमित्त व्रत। (अ० १०९)

: ९७ :

तीर्थ

तीर्थ यात्रा का भी धर्म के क्षेत्र में प्रभाव वढ गया था। वितस्ता, सिन्धु, चन्द्रभागा, पुष्कर, प्रभास, नैमिष, सागर, देवकाम, इन्द्रमार्ग,

स्वर्णबिन्दु, हिरण्यबिन्दु, इन्द्रतोया, गन्धमादन, करतोया, कुरङ्ग, गंगाद्वार, कुशावर्त्त, बिल्वक, नीलपर्वत, कनखल, भागीरथी (वाराणसी) गंगा, सप्त गंगा, त्रिगंगा, इन्द्रमार्ग, महाह्लद, भृगुतुङ्ग, देविका, सुन्दरिका, गंगायमुना-संगम ह्लद, महागंगा, वैव्यानिक, विपाशा, कृत्तिकाश्रम, देवदारुवन, शर-स्ताव, कुशस्तव, चित्रकूट, जनस्थान, श्यामप्रिय, कौशिकी, मतङ्गवापी, गंगाह्लद, उत्प्लावन (प्रयाग), दशाश्वमेध, कालञ्जर, षष्टिह्लद (प्रयाग), मरुद्गण, वैवस्वत, ब्रह्मसर, भागीरथी, उत्पतन, अष्टावक्र, अश्मपृष्ठ गया, निरविन्द, क्रौञ्चपदी, कलविङ्क, अग्निकन्या, करवीरपुर, विशाला, देवह्लद, आवर्तनन्दा, महानन्दा, उर्वशी तीर्थ, लौहित्य, रामह्लद, विपाशा, विन्ध्य नर्मदा, शूर्पारक, जम्बू मार्ग, कोकामुख, अञ्जलिकाश्रम, कन्याकुमारी, उज्जानर्क, आर्षिषेण, पिङ्गा, कुल्या, पिण्डारक, ब्रह्मसर, मैनाक, कालोदक, नन्दिकुण्ड, नन्दीश्वर—अङ्गिरा द्वारा कही हुई यह तीर्थमाला बिना किसी भौगोलिक क्रम के है। लेखक ने उस समय की एक तीर्थ-सूची लेकर अपनी योग्यता के अनुसार श्लेको मे पिरो दी है। इसमे लगभग ९० तीर्थों के नाम है। आरण्यक पर्व मे छोटी-बडी तीन तीर्थमालाएं दी गई हैं। उनसे इसकी तुलना करनी चाहिए। अध्याय २६ में गंगा माहात्म्य का वर्णन है।

: ९८ :

विष्णु-महिमा और शिव-महिमा

दो देवताओं की महिमा का कथन इस पर्व मे आया है। इसमें से विष्णु की महिमा को शान्तिपर्व मे बहुत जगह दिया जा चुका है, फिर भी अध्याय १३९, १४७-५०, मे उपबृहंण है। भागवतो द्वारा विष्णु का जितना भी गुणगान किया गया, वह अपर्याप्त था और उसी की पूर्ति यहा विष्णु-सहस्त्र नाम द्वारा की गई है (अ० १४९, १४-१४२ श्लोक तक)। इन

नामो का परिगणन भीष्म ने युधिष्ठिर से किया है। इसमें कई प्रकार के नाम है, ऋषियो से परिगीत, विख्यात और गौण। विक्रम की पहली दूसरी शती के लगभग इसकी रचना हुई होगी। मत्स्य पुराण में आया है कि मद्र देश के राजा पुरुरवा ने रूप प्राप्ति के लिए हिमालय में शेष-शायी विष्णु के मदिर में मासोपवास करते हुए विष्णुसहस्त्रनाम का पाठ किया।

इस प्रकार के स्तोत्र की रचना दुष्कर कार्य था। ऐसे स्तोत्र में लगभग आधे नाम वेद से लिए जाते थे। शेप में लौकिक सस्कृत से चुने हुए विख्यात नाम होते थे और बाकी पूर्ति गौण नामो से की जाती थी। वैदिक नामो से विरचित स्तोत्र वेदगर्भ कहलाते थे। कुछ प्रसिद्ध वैदिक नाम इस प्रकार है—वपट्कार, शर्व, स्थाणु, स्वयभू, विश्वकर्मा, मनु, त्वष्टा, ईशान, प्राण, प्राणद, हिरण्यगर्भ, विश्वरेता, वृषाकपि, वसुमना, रुद्र, अमृत, कवि, हस, वाचस्पति, यज्ञसाधन, अन्न, अन्नाद आत्मयोनि, सामगायन, आदि।

इस प्रकार के स्तोत्र में कई नाम एक से अधिक बार आये है, जैसे अज, हिरण्यगर्भ, प्राण, शिव, गोपति, श्री निवास, चतुरात्मा, चतुर्व्यूह। लेखक मनुष्य ही था और उसने नामो की जो बडी सूची इकट्ठी की थी, उसे सहस्त्र की सख्या मे खपा दिया। इस प्रकार के स्तोत्र में नामो का कोई क्रम न था। विष्णु, शिव और वैदिक देवो के विशेषण एक साथ घुल-मिल गये है।

विष्णु सहस्त्रनाम स्तोत्र का उत्तर भारत में अत्यधिक प्रचार हुआ। आठवी शती के अन्त में शकराचार्य ने इस पर एक भाष्य लिखा। उन्होने प्रत्येक नाम की निरुक्ति देते हुए इस सामान्य स्तोत्र को वहुत अधिक चमका दिया। ब्राह्मण साहित्य में नाम निरुक्ति की जो आर्षी शैली थी और जो पुराणो मे भी स्तोत्रो की व्याख्या करते हुए प्राय मिलती है, उस शैली से शकर जैसे धुरन्धर आचार्य ने विष्णुसहस्त्रनाम की अद्भुत व्याख्या की जो देखने योग्य और उसमे भरे हुए रस का आनन्द लेने योग्य है।

विख्यात लौकिक नाम

सहस्त्रमूर्धा, विष्णु, महेन्द्र, शिपिविष्ट, सत्य, धर्म, पराक्रम, शिखण्डी, अच्युत, काल, संवत्सर, यज्ञ, महादेव, त्रिसामन्, शिव, अपराजित, महास्वन, स्थविर, मधुसूदन, ईश्वर, अज, वृषकर्मा, विष्वक्सेन, लोकाध्यक्ष, चतुरात्मा, चतुर्व्यूह, सदायोगी, श्रीनिवास, हिरण्यगर्भ सुप्तसाद, प्रसन्नात्मा, नारायण, सिद्धसंकल्प, वाग्मी, प्रकाशात्मा, सत्य-धर्म, वासुदेव, जनेश्वर, पद्मनाभ, शतावर्त, सर्वज्ञ, समितिञ्जय, वैकुण्ठ, अधोक्षज, सुदर्शन, वीज, अव्यय, समीहन, सर्वदर्शी, सूक्ष्म, जितक्रोध, गोपति, ज्ञानगम्य, भूरिदक्षिण, सोमप, अमृतप, सत्यसन्ध, कपिलाचार्य, महाशृङ्ग, महावराह, वरुण, भगवान्, खण्डपरशु, शतानन्द, गणेश्वर, कालनेमि, कामदेव, कर्मज्ञ, महाहवि, मनोजय, वसुदेव, शतमूर्ति, लोकनाथ, सर्ववित्, अक्षोभ्य, स्वर्णविन्दु, अमृताश, वंशविवर्धन, धनुर्वेद, सत्यधर्मपरा-यण, अजितशासन, पर्यवस्थित, चतस्र-आधार-निलय, प्रजागर, पुष्पहास, प्राणजीवन, जन्ममृत्युजरातिग।

शकराचार्य के अनुसार वासुदेव की व्याख्या इस प्रकार है—

वसति, वासयति, आच्छादयति, सर्वमिति वा वासुः।

दीव्यति, क्रीडते, विजिगीषते, व्यवहरति, द्योतते, स्तूयते गच्छतीति वा देव, वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः।

और भी

भूतान्यत्राभिसुख्येन वसन्तीति भूतावासः, वसन्ति त्वयिभूतानि, भूतावासस्ततो भवान्। हरिवश (३।८८।५३)

जगदाच्छादयति मायेति वासु देवः स एव देव इति वासुदेवः।

चक्री शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—समस्तलोक-रक्षार्थं मनस्तत्त्वात्मकं सुदर्शनाख्यं चक्र धत्त इति चक्री।

चलस्वरूपमत्यन्तजवेनान्तरितानिलम्।
चक्रस्वरूपं च मनो धत्ते विष्णुःको स्थितम्॥

इतिविष्णुपुराणवचनात्।

हमारा पाठको से अनुरोध है कि शंकर के आधिभौतिक अर्थो से ऊपर उठकर इन अर्थों का रसास्वादन करें। अध्यात्म विद्या का कोई अन्वेषक यह नही भूल सकता कि साख्य और योग उसकी प्रज्ञा को सुशोभित करने-वाले दो कुण्डलो के समान है। उनके कारण वह भी कुण्डली नाम का अधिकारी है।

: ९९ :

विष्णु और शिव सहस्रनाम

अनुशासनपर्व का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग शिवसहस्र नाम है। वस्तुत' शिव की महिमा के विषय मे बहुत कम सामग्री आ पाई थी। उसकी पूर्ति शिवसहस्रनाम द्वारा की गई है (अनुशासनपर्व अ० १९)। इसमें शिव और पार्वती ने श्री कृष्ण को पुत्र प्राप्ति के लिए महावरदान दिया। कृष्ण ने पुत्र के लिए हिमालय पर तपश्चर्या की। इससे शिव-पार्वती प्रसन्न हुए। तब उपमन्यु ने शिव की महिमा का वर्णन किया। उसी प्रसंग मे तण्डी ने शिवसहस्रनाम का पाठ किया। वस्तुत सस्कृत साहित्य में अभी तक हमें तीन शिवसहस्रनाम प्राप्त हुए हैं। एक यहा है जो तण्डी कृत है, दूसरा वामन पुराण मे है जिसे वेनकृत कहा गया है। तीन लिङ्ग पुराण में है, जिनमें एक कृष्णकृत है, दूसरा दक्षकृत है, और तीसरा तण्डीकृत है। इस प्रकार इन शिवसहस्रनामो की सख्या यद्यपि देखने में चार जान पडती है, पर वस्तुत वह तीन ही है क्योकि जिसे वामन पुराण में वेनकृत कहा गया है, उसे ही लिंग पुराण में दक्षकृत कहा है।

शिवसहस्रनाम—लगभग १२५ श्लोको में यह सहस्रनाम है, जैसे विष्णुसहस्रनाम है।

शैव और वैष्णव दोनो धर्मों मे जो सान्निध्य था और उनके आचार्यों में जो प्रीति और समन्वय का भाव था उसका ठोस प्रकरण पुराणो में

मिलता है। उसे देखते हुए शिवसहस्रनाम और विष्णुसहस्रनाम दोनों एक सदृश ही लोकप्रिय थे।

ऊपर हमने विष्णुसहस्रनाम की रचना के विषय में जो कुछ लिखा है, वह शिवसहस्रनाम की रचना के विपय मे भी अक्षरशः घटित होता है। इसके लेखक ने भी वैदिक और लौकिक साहित्य से सहस्रो नामों की सूची एकत्र की जिसे श्लोकवद्ध करने से सहस्रनाम स्तोत्र की रचना हुई। कुछ नाम और विशेषण जो केवल शिव के लिए प्रयुक्त है, वे इस प्रकार है—

श्मशानवासी, महाहनु, हयगर्दभि, नीलकण्ठ, दिग्वासस्, कमण्डलुधर, कपालवान्, उष्णीशी, शृगालरूप, मुण्ड, ऊर्ध्वरेता, ऊर्ध्वलिङ्ग, ऊर्ध्वशायी, त्रिजटी, चीरवास, गजहा, सिंहशार्दूलरूप, आर्द्रचर्माम्बरावृत, कालयोगी, महानन्द, चतुष्पक्ष, निशाचर, प्रेतचारी, भूतचारी, नर्त्तक, यज्ञहा, दक्षयज्ञापहारी, वडवामुख, कालकंटक, भेषज, सर्पचिरनिवासिन्, कालसिंह, मधुरमधुकलोचन, नन्दीश्वर, महालिंग, पशुपति, वृषण, मृगालय, लम्बितोष्ठ, भस्मशायी, भस्मगोप्ता, परश्वधायुध, सुरारिहा, अजैकपाद, कापाली, कैलासगिरिवासी, कूलहारी, कूलकर्ता, गान्धार, करस्थाली, कुण्डी, जाह्नवीधृत्, उमाधव, उमाकान्त, गोवृषेश्वर, हस्तीश्वर, ललाटाक्ष, आदि।

अनुशासनपर्व मे जो शिव महिमा के अध्याय है, वे उस युग के शैव, माहेश्वर, पाशुपत आदि संप्रदायो मे भगवान् शिव के गौरव और लोकप्रिय स्वरूप का परिचय देते है। यदि शिव सम्बन्धी यह वर्णन यहा न लिया गया होता तो शान्ति और अनुशासन का यह विस्तृत वर्णन अधूरा रहता। क्योकि शवधर्म मोक्ष प्राप्ति का एक निश्चित मार्ग प्रस्तुत करता था। लगभग पहली शती से लेकर सातवी शती तक पाशुपत धर्म के आचार्यों ने महाराष्ट्र से मालवा तक और वाराणसी-मथुरा से कुरुक्षेत्र तक शैव धर्म के रूप मे दर्शन और उपासना की प्रभावशालिनी रसधारा बहा दी थी और जनता के मन को मुग्ध कर लिया था। भगवान् शिव का जो स्वरूप

वैदिक युग से चला आया था, वह और भी बद्धमूल हो गया। पाशुपत आचार्यों ने जो सात्त्विक कार्य किया उसका कुछ नमूना यहा है। किन्तु उसका पूरा विवरण लिंग पुराण और शिव पुराण मे पाया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि कुषाण सम्राट् वेमतक्ष्म ने करोडो सिक्के ढववाये थे। उन सवके एक ओर शिव और उनके नन्दिवृष की मूर्ति रहती थी। वह युग शैवधर्म के परम उत्कर्ष का काल था और उसी समय यह सामग्री पहली से तीसरी ई० शती तक आयी होगी। अध्याय १४०-१४२ में भी शिव महादेव का वर्णन है।

और भी छोटे-मोटे विषयो मे ब्राह्म महिमा अ० ३८-४७, १५१-१५७, तप महिमा, अहिंसा, गृहस्थ महिमा ४८,४६, ५०-५१, ९३-९४ आदि, यज्ञ-धर्म-महिमा आदि का संग्रह किया गया है। पर उनमे कोई नयी बात या वैचित्र्य नही है। अध्याय १६२ से १६८ तक भीष्म के प्राण त्याग का वर्णन है। कई महत्त्व के आख्यानो में नाचिकेतोपाख्यान, नृगोपाख्यान, अष्टावक्रचरित, कार्त्तिकेय उपाख्यान, नहुषचरित इसी पर्व में संगृहीत है। इस प्रकार अनुशासन पर्व कई फुटकर विषयो का संग्रह मात्र है। इसमे शान्तिपर्व जैसी महत्त्वपूर्ण सामग्री का प्राय अभाव है।

०

: १०० :

चौदहवां आश्वमेधिक पर्व

(अ० १–९२)

महाभारत का चौदहवां पर्व आश्वमेधिक है। इसमे ९२ अध्याय है। अनुमान होता है कि पूना के संशोधित संस्कारण मे यह अध्याय संख्या पर्याप्त कम हो जायगी। इसका मुख्य विषय तो युधिष्ठिर का यज्ञ-मेध ही होना चाहिए। युधिष्टिर के शोक में डूबे हुए मन को शान्ति का उपाय अश्वमेघ यज्ञ ही था। उन्हें भीष्म एव व्यास ने यही सलाह दी थी। इसका उल्लेख शान्तिपर्व मे के शुरू मे पहले आ चुका है। युधिष्ठिर का वश चलता तो वह वनवासी वन जाते। पर भारत युद्ध के वाद जो प्रजापालन का दायित्व उन पर आ गया था, उससे किसी भी प्रकार वचना असंभव था। संभवतः यही सव सोचकर उन्होने अश्वमेघ के प्रस्ताव को मान भी लिया था। जव एक वार उस रास्ते पर पडे तो क्रमश उसका रंग गाढा होता गया। उनका मन चाहे इसमे न भी रहा हो, फिर भी जो वाना एक वार पहन लिया उसका नाच भी उन्हे नाचना पडा। यहा अध्याय ५९-९२ तक यज्ञ की कथा है। इसके पूर्व कुछ विशिष्ट आख्यानो का संग्रह है जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

जहा तक अश्वमेध यज्ञ का सम्वन्ध है, व्यास जी ने फिर युधिष्ठिर के मन को समझा-बुझाकर दृढ किया। व्यास जी की संसारिणी प्रज्ञा वहुत वढी-चढी थी। उन्होने सोचा कि युधिष्ठिर को इस समय राजा के करने योग्य कुछ काम न वताया गया तो वे हिल-मुल धर्म की मादकता से जंगल की राह ले लेंगे। अच्छा हुआ कि युधिष्ठिर व्यास जी की वात मान गये और अश्वमेध की तैयारियां होने लगी। अश्वमेघ यज्ञ के लिए वहुत धन-सभार की आवश्यकता होती थी। उसमें कम-से-कम एक वर्ष का समय लग जाता था। राजा और प्रजा को भारी तैयारी करनी पड़ती थी। उसमें

राजा के अनेक मित्र भी धन-धान्य से निचुड जाते थे। उन बेचारो को या तो राजी-खुशी या लडाई से अपने कोश का बडा हिस्सा सम्राट् को भेंट अत्यावश्यक रूप से देना पडता था। कृष्ण पहले से ही ताड गये थे कि धन के बिना अश्वमेध यज्ञ का सपन्न होना संभव नही। अत वह पहले से ही अर्जुन को द्वारका ले गये और वहा से उसे दिग्विजय के लिए भेजा। इस यात्रा में अर्जुन पूर्व भारत और दक्षिण भारत में गये।

इस बार चारो भाइयो की दिग्विजय यात्रा का प्रश्न नही उठाया गया, केवल अर्जुन को अश्व रक्षा के लिए भेजा गया। (अ० ७२)

भीम और नकुल को नगर की रक्षा के काम पर नियुक्त किया गया और सहदेव को कुटुम्ब पालन का काम सौंपा गया। अर्जुन ने पहले पश्चिम दिशा मे सिंधु देश को जीता जहा दु शला का पौत्र या जयद्रथ का पौत्र राज्य करता था। पूर्व दिशा मे अर्जुन मणिपुर राज्य तक गया। वहा के राजा बभ्रुवाहन से, जो अर्जुन का पुत्र था, भारी युद्ध हुआ और उसमें अर्जुन मारा गया। तब उसकी दूसरी पत्नी नागकन्या उलूपी ने उसे अमृत छिडक कर जिलाया। तब उन लोगो ने यज्ञ के लिए बहुत सा दान दिया। पूर्व के समुद्र तटो की यात्रा करता हुआ अर्जुन मगध की राजधानी राजगृह आया तथा वहा के राजा मेघसन्धि से उसका युद्ध हुआ। वहा से वह वङ्ग, पुण्ड्र, कोसल आदि देशो में गया। उसके बाद दक्षिण-पश्चिम समुद्र के तटवर्ती देशो में होते हुये उसने द्वारका, पञ्चनद और गान्धार देश मे प्रवेश किया।

इस यात्रा का वर्णन पहली चारमास वाली विजय यात्रा के समान विस्तृत नहीं है। फिर भी इसमें देश का विस्तार पर्याप्त रूप से आता है तथा अर्जुन ने धन संग्रह का कार्य भी पर्याप्त रूप से किया। क्योंकि यह तो यहा की प्रथा ही थी कि दण्ड लेकर या कुछ लेकर राजा का राज्य उसके लिए छोड दिया।

माघ शुक्ल द्वादशी तिथि के दिन धूम-धाम से यज्ञ की तैयारी शुरू हो गई। यज्ञ फाल्गुन पूर्णिमा को आरंभ किये जाने क

मुहूर्त था। वेद के पारंगत विद्वानो को निमंत्रित किया गया और उन्होंने यज्ञ के उपयुक्त स्थान चुना। वहा अनेक साल वृक्षो की सफाई करके सैकडों भवन बनवाये गये। वह यज्ञशाला सोने और रत्नो से सजाई गई थी, तथा उसका निर्माण शास्त्रीय विधि से कराया गया था।

अनेक जगहो से आये राजाओ के लिए तथा ब्राह्मणों के रहने के लिए अनेक उत्तम महल भीम ने बनवाये। अश्वमेध के अवसर पर मानो दूसरी राजधानी का ही निर्माण किया जाता था, क्योकि अश्वमेध से नये राष्ट्र का जन्म माना जाता था। इस अवसर पर चक्रवर्ती सम्राट् को सब राजा मिलकर अभूतपूर्व सम्मान देते थे।

दूत भेज कर सब राजाओं को निमंत्रित किया गया। वे सभी राजपरिवार सोना आदि लेकर यज्ञ मे सम्मिलित हुए। उनका उचित स्वागत-सत्कार किया गया। वह यज्ञमण्डप इन्द्र की यज्ञशाला के समान था। वहा अन्न-सामग्री के पर्वत थे और सारा जम्बूद्वीप एकत्र था। युधिष्ठिर के आदेश से भीम ने आये हुए राजाओ की आव-भगत की। उसी समय युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से अर्जुन का यह संदेश सुना कि पूर्व देश का अधिपति मेरा पुत्र अपनी माता चित्रागद और विमाता उलूपी के साथ आवेगा। वह मेरा वडा भक्त है, अत उनका विशेष सत्कार होना चाहिए। युधिष्ठिर ने वात समझ ली और ऐसा ही होने दिया।

इस प्रकार राजा युधिष्ठिर ने दो वडे यज्ञ किये, राजसूय और अश्वमेध। पहले दुर्योधन को उचित सम्मान नही मिला था। वैसी कोई त्रुटि इस वार नही रहने पाई। यज्ञ भूमि मे २१ यूप खडे किये गए—वेल के छह, खैर के छह, पलाश के छह, देवदारु के दो और लिसोड़े का एक।

इस यज्ञ मे युधिष्ठिर ने राजाओं को दान-दक्षिणा दी और भेंट देकर विदा किया। प्राचीन भारत मे यज्ञ संस्था का जो विस्तृत स्वरूप था उसका कुछ परिचय करने के लिए हमने इस महोत्सव की ब्यौरेवार परीक्षा की है। किन्तु वास्तविक वात यह है कि इस विवरण मे उसका शतांश वर्णन भी नहीं आ पाया। राजधानी और राष्ट्र दोनों ही रात-दिन के उत्सव की

गमक में डूब जाते थे। लिंग पुराण में इक्ष्वाकु वंश के एक राजा के मुख से कहलाया गया है कि मेरे पास इतना धन नही है कि मै अश्वमेध यज्ञ का काम उठा सकूं।

नेवले की कथा

व्यास जी ने युधिष्ठिर का यह यज्ञ देखा था। जव यज्ञ मण्डप मे वैठे हुए सव लोग दान-दक्षिणा की प्रशसा कर रहे थे, तो व्यास जी को यह वात सह्य न हुई। उन्होने नेवले की एक कहानी देकर यज्ञ का रंग ही फीका कर दिया। कहानी का आशय यह है कि एक नेवला वेदी के आस-पास चक्कर काटने लगा। उसका आधा शरीर सोने के रग का था। उसे इस प्रकार व्यग्र देखकर लोगो ने कारण पूछा तो उसने कहा, "मैने सुना था कि युधिष्ठिर ने वहुत वडा यज्ञ किया है। यह देखने के लिए मै यहा आया। मैने इसे सच नही पाया। पहले उञ्छवृत्ति से निर्वाह करनेवाले एक व्राह्मण ने सेर भर सत्तू से जो यज्ञ किया था, वह कही इससे वडा था। वह व्राह्मण परिवार कई दिनो से भूखा था। एक दिन उसे भिक्षा में सेर भर सत्तू मिले। वह व्राह्मण, पत्नी, पुत्र और पुत्रवधु ये चार व्यक्ति उस परिवार में थे। वे भोजन करने जा ही रहे थे कि द्वार पर किसी अतिथि ने पुकारा। व्राह्मण ने जाकर देखा और अपने से भी अधिक भूखे एक भिक्षुक को द्वार पर पाकर भीतर वुलाया और सत्तू का अपना भाग दे दिया। उससे उस व्राह्मण की भूख न मिटी, तो पुत्र ने भी अपना हिस्सा दे दिया। इसी प्रकार अतिथि के भूखे रहने पर व्राह्मणी और पुत्रवधू ने भी अपना हिस्सा दे दिया तथा वे चारो प्राणी भूख से व्याकुल होकर मर गये। और तभी मैं वहा जा पहुचा और मैंने गिरे हुए सत्तू के कणो को खा डाला। तभी से मेरा आधा शरीर सोने का हो गया। और भी वहुत जगह मै यज्ञो मे गया, परन्तु वाकी आधा शरीर अभी सोने का नही हुआ। यहा भी वैसा ही हुआ।" उपस्थित सभी ने यह कहानी आश्चर्य के साथ सुनी और सोचा कि यह यज्ञ उस व्राह्मण के सेर भर सत्तू वाले यज्ञ से कम है।

: १०१ :

पन्द्रहवां आश्रमवासिक पर्व

(अ० १-४२)

आश्रमवासिकपर्व की कथा एकदम सीधी है। बूढे धृतराष्ट्र और माता गाधारी जब तक हस्तिनापुर मे रहे सकुटुम्ब युधिष्ठिर ने उनकी वड़ी सेवा की। एक दिन राजा धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर से अनुरोध किया कि वह जंगल मे जाकर आश्रमवास करना चाहते है। लेखक ने एक मनोवैज्ञानिक तथ्य का उल्लेख किया है, और वह यह है कि युधिष्ठिर तथा उनके दूसरे भाई धृतराष्ट्र को सब प्रकार का सुख पहुंचाते थे, पर धृतराष्ट्र का मन भीमसेन की ओर से साफ न था। भीमसेन कुछ न कुछ ऐसा करते या कहते थे कि धृतराष्ट्र के मन को चोट लगे। अन्त मे धृतराष्ट्र ने आश्रमवास का निश्चय किया और युधिष्ठिर ने व्यास के समझाने से उसकी अनुमति भी दे दी। चलने से पहले धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया जिसका सार यह था—हे युधिष्ठिर, धर्म से राज्य का संचालन करना, वडे-बूढो की वात सुनना, पुराने मंत्रियो की सलाह मानना, विश्वस्त गुप्तचरों का सहयोग लेना, अपने मंत्र को गुप्त रखना। नगर की ओर पूरा ध्यान देना। भोजन आदि के अवसर पर आत्मरक्षा की ओर ध्यान देना। जिनका कुल शील ज्ञात है उनसे वोलना चाहिए इत्यादि।

एक प्रकार से भारतीय राजधर्म की मोटी-मोटी वातें इस उपदेश के तीन अध्यायो मे आ गई है (५, ६, ७)। इसे धृतराष्ट्र राजनीति कहा है।

धृतराष्ट्र और गांधारी ने महल मे जाकर अन्तिम भोजन किया और वहा से गगा किनारे आ गये। फिर वहां से पदयात्रा करते हुए कुरुक्षेत्र में शतयूप मुनि के आश्रम मे आश्रमवास के लिए गये। वहा नारदजी भी उनसे मिलने आये और उन्होने कई दृष्टान्त सुनाकर धृतराष्ट्र के विचारो को स्पष्ट किया और उनकी श्रद्धा को वढाया। वस्तुत. विदुरजी के समझाने से धृतराष्ट्र

की बुद्धि में ऐसा परिवर्तन हुआ था। भीमसेन जो छेडछाड करते रहते थे उसका निपटारा विदुर जी को ही सुनना पडता था और इसलिए उन्होने धृतराष्ट्र को समझाया कि अब तुम्हारे लिये यही उचित है कि राजभवन का निवास छोडकर आश्रमवास के लिए बाहर चले जाओ। उन्होने कुती को भी साथ में लिया और स्वय भी चले गए। विदुर धृतराष्ट्र के जन्म के साथी थे और ऊच-नीच के बहुत-से अवसरो पर उन्होने धृतराष्ट्र को समझाया। एक ऐसा ही प्रकरण प्रजागर पर्व या विदुर नीति है जिसे हमने उद्योग-पर्व में प्रज्ञा दर्शन का ग्रथ कहा है और तदनुसार व्याख्या की है। विदुर और धृतराष्ट्र में गाढी मैत्री थी। पर दृष्टिकोण का अन्तर था। विदुर प्रज्ञावादी और धृतराष्ट्र भाग्यवादी थे। चलने से पूर्व जैसा उचित था प्रजाओ ने आकर धृतराष्ट्र से बहुत अनुनय-विनय की और साम्ब नाम के एक ब्राह्मण ने उन्हें बहुत तरह से समझाया और अपने भाव प्रकट किये। इसके बाद चलते-चलते एक कडवी घटना घट गई जिससे धृतराष्ट्र की लाचारी प्रकट होती है। उन्होने अपने पुत्रो का श्राद्ध करने के लिए राज-कोष से कुछ धन मागा। अर्जुन के कहा—हा, ठीक है, धन देना चाहिए। पर भीमसेन सहमत न हुए और उन्होने राजा की इच्छा का विरोध किया। यह बात धृतराष्ट्र को कितनी खटकी होगी ? धन तो दिया ही गया, किंतु ऐसी कडवाहट के साथ जिससे धृतराष्ट्र को जीते जी चुभन होती रही। चलने से पहले धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रो के लिए पर्याप्त धन व्यय करके श्राद्ध का काम पूरा कर दिया। इस अवसर पर पाडवो ने माता कुंती को रोकना चाहा, पर वे अपने निश्चय पर दृढ रही। सहदेव और द्रौपदी ने भी साथ जाने का उत्साह प्रकट किया। युधिष्ठिर अपनी सेना के साथ कुरुक्षेत्र तक मिलने गये। साथ मे सजय भी गये और उन्होने कुरुक्षेत्र में वहा के ऋषियो के साथ राजकुल की स्त्रियो का परिचय कराया। कुछ दिन वहा प्रसन्नता के वातावरण में बिताकर युधिष्ठिर और उनके कुटुम्बी हस्तिनापुर लौट आये। फिर नारदजी ने आकर सूचना दी कि धृतराष्ट्र, गाधारी, कुती दावानल में दग्ध हो गये। इससे युधिष्ठिर को बहुत शोक हुआ। युधिष्ठिर ने उनके फूल चुनवा कर गंगाजी में श्राद्ध किया।

: १०२ :

सोलहवां मौसल पर्व

(अ० १–८)

द्वारका मे कृष्ण के वंश के यादवो का जैसे विनाश हुआ उसकी कहानी मौसल पर्व में है। यादव क्षत्रिय बहुत उद्दाम और निरंकुश हो गए थे। एक बार द्वारका मे कुछ ऋषि पहुचे। उनसे ज्ञान चर्चा की बात तो दूर रही, यादव गुण्डो को एक मजाक सूझा। उन्होने साम्ब का स्त्री का वेश बनाया और उसके पेट से गूदड बाधकर मुनियो से पूछा—यह गर्भवती स्त्री है, इसके क्या सन्तान होगी। मुनि इस बेहूदा ठठोली से बहुत उद्विग्न हुए। उन्होंने कह दिया—इसके पेट से एक लोहे का मुसल जन्म लेगा। वह बलराम और कृष्ण को छोडकर सब यादवो का नाश करेगा। समय पर मुसल का जन्म हुआ। कृष्ण ने उसका संकेत समझ लिया। राजा उग्रसेन को इसकी सूचना मिली तब उसने लोहे के मुसल को पिसवा कर उसका चूर्ण समुद्र में डलवा दिया। पर आने वाली मौत को रोकने वाला कोई न था। और नगर मे डौंडी-पीट दी गई कि आज से कोई मद्यपान न करे।

इसी समय ऐसी घटना घटी कि एक कराल, विकट, मुण्डित पुरुष दर-दर घूमता हुआ दिखाई देने लगा। लोग उस पर बाण चलाते, किन्तु उसे बाण न लगते थे। लोगो मे आतक छा गया और भाति-भाति के अपशकुन होने लगे। तब कृष्ण ने अन्धकों और वृष्णियो को सलाह दी कि आप लोग तीर्थयात्रा कर आवें। अन्धक-वृष्णि और अनेक सैनिक समुद्र के किनारे पहुंचे। उनके लिए बहुत प्रकार की खाद्य सामग्री और मद्यमास भी तैयार किया गया। यादवो का यह जमावड़ा प्रभास तीर्थ में हुआ।

मूसल का जो चूर्ण समुद्र मे डाला गया था वह एरक घास के रूप

में उग गया और उसी को उखाड कर उन्मत्त हुए अन्धक-वृष्णि और यादव आपस मे लड मरे। कौन किसको मार रहा है, यह ज्ञान भी जाता रहा।

इस प्रकार का भीषण काण्ड समाप्त हो गया, तो कृष्ण का सारथी दारुक अर्जुन को सूचना देने के लिए हस्तिनापुर आया। तब बलराम ने जंगल में एक पेड के नीचे बैठकर आत्महत्या कर ली। उस समय कृष्ण भी लेटे हुए थे। जरा नामक एक व्याध ने उनके पैर को लोहे के बाण से वेध लिया, जिससे उनका प्राण-पखेरू उड गया।

जब अर्जुन द्वारका पहुचे, तो यादवी स्त्रियो की करुण दशा देखकर बहुत दु खी हुए।

वसुदेव ने अर्जुन को अन्तिम आदेश दिया और प्राण त्याग दिया। अर्जुन ने उनका तथा मौसल युद्ध में मरे हुए सभी यादवो का श्राद्ध किया। इसके बाद समुद्र की बढती हुई लहरो ने द्वारका को डुबो दिया। यादवों के छोटे कुमारो का उन्होने अभिषेक किया और कुछ स्त्रियों को भी उन्होने वहा बसाया और शेष स्त्रियो को लेकर हस्तिनापुर लौटे। पुरुषसिंह अर्जुन ने उस नगर का जो-जो भाग छोडा, उसे समुद्र ने अपने जल से आप्लावित कर दिया। वन-नदी पर्वतो का लम्बा रास्ता तय करके जब अर्जुन पञ्च-नद प्रदेश में आये तो वहा के लुटेरे और लठैत मनुष्यो ने उन पर आक्रमण किया। सभवत ये सरस्वती तटवासी आभीर थे (७।४७)। अर्जुन ने उस अवसर पर अपने धनुष गाण्डीव को चढाना आरम्भ किया और बडे प्रयत्न से किसी तरह उसे चढा पाया। उन्होने धनुष पर प्रत्यञ्चा तो चढा दी, परन्तु जब वह अपने अस्त्र-शस्त्रो का चिन्तन करने लगे तो उन्हें उनकी याद बिलकुल नही आ पाई। युद्ध के अवसर पर अपने बाहु-बल में यह महान विकार आया देख और महान् दिव्यास्त्रो का विस्मरण हुआ जान वे लज्जित हो गये। सैनिक बल भी कुछ काम न आया। कुछ स्त्रियो को डाकुओ ने लूटा और कुछ उनके स्पर्शभय से चली गईं। कृत-वर्मा के पुत्र को और भोजराज के परिवार की अपहरण से बची हुई स्त्रियों

को अर्जुन ने मार्तिकावत नगर मे बसा दिया। तत्पश्चात् वीर-विहीन सभीत वृद्धो, बालको तथा अन्य स्त्रियों को साथ लेकर वे इन्द्रप्रस्थ आये और उन सबको वहा का निवासी बना दिया। धर्मात्मा अर्जुन ने सात्यकि के प्रिय पुत्र यौयुधानिक को सरस्वती तटवर्ती देश का अधिकारी एवं निवासी बना दिया और वृद्धो और बालको को उसके साथ कर दिया। इसके बाद शत्रु वीरो का संहार करने वाले अर्जुन ने वज्र को इन्द्रप्रस्थ का राज्य दे दिया। अक्रूर जी की स्त्रिया वज्र के बहुत रोकने पर भी वन में तपस्या करने के लिए चली गईं। रुक्मिणी, शैव्या, हेमवती तथा जाम्बवती देवी,ने पतिलोक की प्राप्ति के लिए अग्नि मे प्रवेश किया। श्रीकृष्ण की प्रिया सत्यभामा तथा अन्य देविया तपस्या का निश्चय करके वन मे चली गईं। जो-जो द्वारकावासी मनुष्य पार्थ के साथ आये थे, उन सबका यथा-योग्य विभाग करके अर्जुन ने उन्हें वज्र को सौप दिया।

अर्जुन ने व्यास के आश्रम मे पहुंच कर सब समाचार सुनाया। व्यास जी ने उन्हे काल की महिमा बताकर धैर्य दिया।

०

: १०३ :

सत्रहवां महाप्रस्थानिक पर्व

(अ० १–३)

इस पर्व में वृष्णि वशियो का श्राद्ध करके प्रजाजनो की अनुमति ले द्रौपदी-सहित पाण्डवो का प्रस्थान वर्णित है। युधिष्ठिर ने अब राज्य छोडकर हिमालय में जाने का विचार किया। उन्होने राज्य की देखभाल का काम युयुत्सु को सौंपा और सिंहासन पर परीक्षित का अभिषेक किया तथा सुभद्रा से कहा, "यह तुम्हारे पुत्र का पुत्र परीक्षित कुरुदेश तथा कौरवो का राजा होगा और यादवो मे जो लोग बच गए है उनका राजा श्रीकृष्ण-पौत्र वज्र को बनाया गया है। परीक्षित हस्तिनापुर मे राज्य करेंगे और यदुवशी वज्र इन्द्रप्रस्थ में। तुम्हें राजा वज्र की भी रक्षा करनी चाहिए।"

पाण्डवो ने अपनी हिमालय यात्रा प्रारम्भ की। मार्ग के कष्टो को न सहकर द्रौपदी, सहदेव, नकुल, अर्जुन और भीमसेन धराशायी हो गए। इसका कारण पूछने पर युधिष्ठिर ने कहा, "द्रौपदी सब भाइयो में अर्जुन को अधिक चाहती थी, इसलिए उसका मन योग से विचलित हो गया। सहदेव अपने समान किसी को बुद्धिमान' और विद्वान् नही समझते थे इस कारण इस दशा को भुगत रहे है। नकुल के विषय में यह बात है कि वह सोचता था कि 'एकमात्र में ही रूपवान् हू' इस कारण नीचे गिरा।" अर्जुन के विषय में युधिष्ठिर ने कहा कि वह सोचता था कि 'मै एक ही दिन में शत्रुओ को भस्म कर डालू गा', किन्तु ऐसा किया नही, इसी से आज इन्हें धराशायी होना पडा। अन्त में भीमसेन गिर पडे तो उनसे युधिष्ठिर ने कहा, "तुम बहुत खाते थे और दूसरो को कुछ भी न समझ कर अपने बल की डीग हाका करते थे, इसी से तुम्हें धराशायी होना पडा है।"

युधिष्ठिर को स्वर्ग में ले जाने के लिए इन्द्र का रथ आया। उन्होने

दो शर्तें कही। पहली यह कि मेरे साथ जो कुत्ता है, वह भी स्वर्ग जायगा। वह कुत्ता धर्म का रूप था। शर्त दूसरी यह कि मेरे भाई मार्ग मे गिरे पड़े है। वे भी मेरे साथ चले, इसकी व्यवस्था कीजिए। क्योकि मै भाइयो के बिना स्वर्ग मे नही जाना चाहता। राजकुमारी द्रौपदी सुकुमारी है, वह भी सुख पाने के योग्य है। वह हम लोगो के साथ चले, इसकी अनुमति दीजिए। देवराज इन्द्र ने उत्तर दिया, "युधिष्ठिर, तुम्हारे सब भाई और द्रौपदी तुमसे पहले ही स्वर्ग में पहुच गये है। वे सब तुम्हें वहा मिलेंगे।" दूसरी शर्त कुत्ते के स्वर्ग जाने की थी, जिस पर प्रसन्न होकर धर्मराज ने कुत्ते का रूप त्याग कर कहा, "हे युधिष्ठिर, मै तुम्हारी परीक्षा ले रहा था।" स्वर्ग में सब ऋषि और देवो ने उनका स्वागत किया। मानव सदेह स्वर्ग जा सकता है या नही—इसका तथ्यात्मक पक्ष न लेकर यह अवश्य माना जा सकता है कि इस विषय में जो भारतीय आदर्श था उसके प्रतिनिधि युधिष्ठिर थे।

: १०४ :

अट्ठारहवां स्वर्गारोहण पर्व

(अ० १—५)

स्वर्गारोहणपर्व महाभारत का उपसहार है। जब युधिष्ठिर स्वर्ग मे पहुच गये, तो उन्होंने एक विचित्र बात देखी। एक ओर उनके भाई नरक के दु.ख से हाय हाय कर रहे थे और दूसरी ओर दुर्योधन और उसके साथी सुख मना रहे थे। युधिष्टिर के लिए यह पहेली थी और उन्होने तुर्शी के साथ इसका कारण पूछा। वह तो यहा तक अड गए कि वे अपने भाइयो के साथ नर्क में ही रहेंगे, उन्हें स्वर्ग सुख नहीं चाहिए। पर उन्हें बताया गया कि दुर्योधन का पुण्य कर्म थोडा है और पाप कर्म बहुत है और भाइयो का पुण्य कर्म बहुत है और पापकर्म थोडा है। अत सूचीकटाह न्याय से दोनो के लिए क्रमश स्वर्गवास और नरकवास का प्रबन्ध किया गया था। इससे युधिष्ठिर की जान में जान आई और उन्हें स्वर्ग के न्याय पर विश्वास हुआ।

इस प्रकार महाभारत का महान शास्त्र सम्पूर्ण हुआ।

●

इस अध्ययन मे कथासूत्र का निर्वाह तो किया ही गया है, किन्तु इस महान् शास्त्र के विभिन्न स्थलो पर जो महान् सास्कृतिक सामग्री गूढ अर्थों मे छिपी हुई है उसके अर्थों पर भी वहुधा प्रकाश डाला गया है। देवबोध, सर्वज्ञ नारायण, अर्जुन मिश्र और नीलकण्ठ की बृहत् प्रामाणिक टीकाएं महाभारत पर उपलब्ध हैं। देवबोध की टीका केवल चार पर्वों पर उपलब्ध हैं। देशी-विदेशी विद्वानो ने महाभारत पर व्याख्या और तिथिक्रम के प्रश्नो को लेकर बहुत कुछ लिखा है। वह सब स्वागत के योग्य है। किन्तु जैसे इस विश्व का गूढ रहस्य मानवीय बुद्धि को पूरी तरह अवगत नही हो सकता, वैसे ही कुछ महाभारत के विषय में भी समझना चाहिए। हमने अपनी इस व्याख्या के तीन खण्डो में कितने ही स्थलो के सम्बन्ध मे नये अर्थों का उद्घाटन किया है। किन्तु इसे समुद्र मे बूद के बराबर ही कहा जा सकता है। प्राचीन भारतीय सस्कृति के कितने ही सरोवर महाभारत के समुद्र मे भरे हुए है, जिनका पूरा रहस्य हमे ज्ञात नही हो सकता। राजधर्म, आपद्धर्म और मोक्षधर्मपर्व ये तीनो प्रकरण अत्यन्त जटिल है। इनके पूरे मर्म को स्पष्ट करने के लिए बहुत अधिक समय और तुलनात्मक अध्ययन की अपेक्षा है। राजधर्म पर्व का अध्ययन करते हुए ऐसा लगा कि प्राचीन राजशास्त्र के कितने ही ग्रथो का निचोड इसमे कर दिया गया है। यद्यपि आज उन ग्रन्थो का पृथक् अस्तित्व नही रहा, किन्तु यह हर्ष का विषय है कि उनकी सामग्री का सार यहा सुरक्षित रह गया। मोक्षधर्म पर्व के विषय मे हमने बहुत कुछ कहना चाहा, किन्तु उसका बहुत-सा अश दुर्बोध होने से छोड देना पडा। यह कठिनाई शब्द-बोध की नही है, किन्तु उस शास्त्रीय संगति की है जिसमें वे शब्द और वाक्य चरितार्थ हो सकते है। लेखक ने यह बात क्यो कही, और किसी पूर्व युग के धार्मिक इतिहास में इसकी संगति क्या थी? यह प्रश्न बना ही रहता है। जब तक इसका युक्ति-युक्त समाधान न प्राप्त हो और पूर्वापर से उसकी संगति स्पष्ट तथा समझ में न आवे, तब

तक जिस शैली को हमने अपनाया है उससे शका वनी ही रहती है ।

इतना सव लिखने के बाद भी अन्त मे इस प्रकार का आत्मानुभव लिखने की आवश्यकता इसलिए पडी कि महाभारत के अर्थानुसधान के विषय में भविष्य के विद्वान् लेखक जागरूक होकर फेंटा कसते रहें । और वार-वार यह प्रश्न पूछते रहे कि अमुक अध्याय में लेखक क्या कहना चाहता है ? और, उसके शब्दो के पीछे वास्तविक अर्थ क्या है ? ईश्वर से प्रार्थना है कि हमारी यह इच्छा भविष्य में पूरी हो । महाभारत राष्ट्रीय सहिता है । धर्म और दर्शन, अध्यात्म और मानव जीवन के विषय में लगभग ५०० ई० पू० से लेकर ई० पाचवी शती तक जो नई रचना और नये विचार इस देश मे उत्पन्न हुए, उन सवका प्रभाव महाभारत पर पडा । इसलिए यह शास्त्र इतना गूढ और जटिल वन गया । और, इसके विषय में ऐसी उक्ति प्रसिद्ध हुई—जो अन्यत्र है, वह यहां है। समाज, धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे जो नये विषय वातावरण मे भरते गए उन्हें आधार मानकर कथावाचक, पौराणिक, या सूत नई ग्रन्थ रचना करते रहते थे । और उनका समावेश एक मान्य पद्धति से महाभारत में होता रहता था । यह कार्य सस्कृत के स्वर्ण युग तक बराबर होता रहा (लगभग ५ शती ई०) । इसे उपवृहण कहते थे और यह श्लाघनीय कार्य माना जाता था । महाभारत के १८ पर्वो को इस दृष्टि से कितनी ही वार गूथा गया । फिर भी महाभारत का लाख श्लोको वाला कलेवर पूरा न हो सका, यद्यपि 'शतसाहस्त्री-सहिता' यह गौरवास्पद नाम इसके लिए लोक में प्रसिद्ध हो गया था । इतनी विशाल रचना विश्व के किसी साहित्य मे नही है । हमे इसका उचित गर्व होना चाहिए और इसके लिए शोधकार्य की उचित व्यवस्था करनी चाहिए ।

परिशिष्ट

महर्षि व्यास

व्यास भारतीय ज्ञान गंगा के भगीरथ है। जिस प्रकार इस देवनिर्मित देश को किसी पुरायुग में भगीरथ ने अपने उग्र तप से गगावतरण के द्वारा पवित्र किया था, उसी प्रकार पुराण मुनि वेदव्यास ने भारतीय लोकसाहित्य के आदि युग मे हिमालय के वदरिकाश्रम मे अखंड समाधि लगाकर अध्यात्म, धर्मनोति और पुराण की त्रिपथगा गंगा का पहले अपनी आत्मा मे साक्षात्कार किया और फिर साहित्यिक साधना के द्वारा देश के आर्य वाड्मय को उससे पवित्र किया। ज्ञानरूपी हिमवान् के उच्च शिखरो पर बहने वाले दिव्य जलो को मानो वेदव्यास भूतल पर ले आए। उन्होंने लोक साहित्य को वेग की प्रेरणा दी। उनके द्वारा पूर्वजो के ज्ञान और चरित्रों से गुम्फित सरस्वती लोक के कंठ मे आ विराजी।

जिस प्रकार भारतवर्ष की प्राकृतिक सम्पदा का अपरिमित विस्तार है, उसी प्रकार कालक्रम से वेदव्यास की साहित्यिक सृष्टि भी लोक के देशव्यापी जीवन में अनन्त बन कर समा गई है। एक प्रकार से सारे राष्ट्र का जीवन ही आज व्यास रूपी महान् वट वृक्ष की छाया के आश्रय में आ गया है। व्यास भारतवर्षीय ज्ञान के सर्वोत्तम प्रतिनिधि बन गए है। यदि भारतीय ज्ञान की उपमा एक ऐसे रत्न से दी जाय जिसकी चमक के सहस्रो पहलू हो, तो व्यास की शतसाहस्री सहिता पूरी तरह से उस महार्घ मणि का स्थान ले सकती है। जैसे भगवान् समुद्र और हिमवान् गिरि दोनो रत्नो की खान है, वैसे ही 'भारत' भी रत्नो से परिपूर्ण है।[1] व्यास की प्रतिभा

---

१ यथा समुद्रो भगवान्यथा हिमवान् गिरिः।
ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥
(आदिपर्व ५६। २७ श्रीसुकथनकर सम्पादित पूना संस्करण)

की स्तुति मे इससे अधिक और क्या कहा जा सकता था—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥
(आदिपर्व ५६, ३३)

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक जीवन के चार पुरुषार्थों से सबध रखनेवाला जो कुछ ज्ञान महाभारत में है, वही दूसरी जगह है, जो यहा नही है, वह कही और भी न मिलेगा।

जीवन चरित

पुराविदो के प्रयत्न करने पर भी व्यास हमारे ऐतिहासिक तिथिक्रम के शिकजे में पूरी तरह नही बाधे जा सके। विक्रम से तीस शताब्दी पूर्व से लेकर पन्द्रह शताब्दी पूर्व तक के किसी युग मे हमारे व्यास का उदय हुआ। पुराणो के अनुसार ब्रह्मा से लेकर कृष्ण द्वैपायन तक अठारह व्यासो की परम्परा मिलती है। ये मुख्यत पुराणो के प्रवचनकर्त्ता रहे होगे। पर सब पुराणो के सुसमीक्षित संस्करण तैयार न हो जाय तब तक इस अनश्रुति का पूरा मूल्य नही आका जा सकता। हा, जय नामक उत्तम इतिहास के रचने वाले अमितौजा महामुनि व्यास, जिनका नाम अठारह व्यासो के अन्त में आता है, अवश्य ही हमारे चिरपरिचित वे पुराण मुनि है जो कुरुपाडव युग में इस पृथिवी पर बदरिकाश्रम और हस्तिनापुर के बीच जाते-जाते थे। हिमालय के रम्य शिखर पर जहा नर-नारायण नामक दो पर्वत है, वहा भागीरथी के समीप विशाला बदरी नामक स्थान में व्यास ने अपना आश्रम बनाया था। आज भी बदरी नारायण के इस प्रदेश के दर्शन के लिये प्रति वर्ष सहस्रो यात्री जाते है। विशाला बदरी के समीप ही आकाश गगा है जहा व्यास का चक्रमण (घूमने का) स्थान था। यह स्थान हरिद्वार से लगभग एक मास की पैदल यात्रा के बाद आता था। उसी हिमवत् पृष्ठ पर व्यास का आश्रम था, जिसके कण-कण में दिव्य तप की भावना ओत प्रोत थी। वहा व्यास ने चार प्रमुख शिष्यो को वैदिक सहिताओ का अध्ययन

कराया। पैल ने ऋग्वेद, वैशम्पायन ने यजुर्वेद, जैमिनि ने सामवेद और सुमन्तु ने अथर्ववेद की सहिताओ का पारायण किया। कहा जाता है कि स्वय व्यास ने अत्यधिक परिश्रम से समस्त वैदिक मंत्रो का वर्गीकरण करके चार सहिताओ का विभाग किया, और इस साहित्यिक साधना के कारण ही उनका नाम वेदव्यास प्रसिद्ध हुआ।[1] इसी आश्रम में कुरु-पाडवों के युद्ध की समाप्ति पर व्यास जी ने तीन वर्षों के संतत उत्थान के बाद महाभारत नामक श्रेष्ठ काव्यात्मक इतिहास की रचना की।

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्॥

(आदिपर्व ५६।३२)

यह महाभारत पाचवां वेद कहलाता है और इसे व्यास ने अपने पाचवें शिष्य रोमहर्षण को पढाया था। इसका एक नाम कार्ष्ण वेद भी है। वस्तुत. व्यास का जन्म नाम कृष्ण था। महाभारत की राजनीति के युग मे दो कृष्ण प्रसिद्ध हुए, एक वासुदेव कृष्ण और दूसरे द्वैपायन कृष्ण। यमुना नदी के एक द्वीप में जन्म होने के कारण ये द्वैपायन कहलाए। चेदि देश के राजा वसु उपरिचर के वीर्य से हस्तिनापुर के पास, जहा एक टापू था, सत्यवती का जन्म हुआ। जन्मकाल से ही यमुनातीरवासी दाशराज ने उसका पालन पोषण किया था। सत्यवती नामक यह कन्या यमुना के पास नाव चलाती हुई प्रथम यौवन के समय योगी पराशर मुनि के संयोग से व्यास की माता बनी। इसी सत्यवती के साथ आगे चलकर राजा शन्तनु ने विवाह किया। व्यास की माता सत्यवती गंगा पुत्र भीष्म की सौतेली मा थी, अतएव व्यास और पितामह भीष्म का सम्बन्ध अत्यन्त निकट था। सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य निस्सन्तान ही मृत्यु को प्राप्त

---

१. यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात्कृष्णत्वमेव च॥

(आदिपर्व ९९।१५)

हुए थे। उनके वाद कुरुकुल अनपत्यता के कारण डूबने लगा, तब अपनी माता सत्यवती का कहना मानकर व्यास ने विचित्रवीर्य की स्त्रियो से धृतराष्ट्र और पाडु नामक दो पुत्र उत्पन्न किए। इसी अवसर पर एक दासी के गर्भ से विदुर उत्पन्न हुए। आम्बिनेय धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि कौरव और कौशल्यानन्दन पाडु के पुत्र युधिष्ठिरादि पच पाडव हुए। व्यास जी ही इस वश के बीज वपन करने वाले हुए। अतएव जन्मपर्यन्त हस्तिनापुर के राजनीतिक उतार-चढाव के साथ उनका घनिष्ठ सवध बना रहा। पुत्रो के जन्म के वाद व्यास ने हस्तिनापुर के पास सरस्वती नदी के किनारे भी एक आश्रम बना लिया था। वहा से वे हस्तिनापुर आते रहते थे। जिस समय पाडु की मृत्यु के बाद पाडव हस्तिनापुर आए और पाडु का दाह-सस्कार हुआ उस समय व्यास वहा मौजूद थे। व्यास ने माता सत्यवती को सलाह दी कि अब तुम हस्तिनापुर छोडकर वन में जा योग में चित्त लगाओ। कौरव पाडवो की अस्त्र परीक्षा के समय भी व्यास हस्तिनापुर मे थे। उन्होने वनवास के समय एकचक्रा नगरी में पाडवो से भेंट करके उन्हें द्रौपदी के स्वयंवर में सम्मिलित होने की सलाह दी। व्यास जी का अमोघ मन्त्र गाढे समय में सदा पाडवो के साथ रहा। व्याह के पश्चात् जब पाडवो को राज मिला तब भी राजसूय यज्ञ की सूझ व्यास जी से ही उनको प्राप्त हुई। इस यज्ञ में आपसी डाह के ऐसे बानक बने जिनसे आगे युद्ध अवश्यम्भावी जचने लगा। व्यास जी युधिष्ठिर को क्षत्रियो के भावी विनाश की सूचना देकर स्वय कैलाश पर्वत की यात्रा पर चले गए।[1] इधर पाडवो ने जुए में हारकर फिर वन की राह ली। व्यास जी को जब यह समाचार मालूम हुआ तब उन्होने आकर धृतराष्ट्र को समझाया कि पाडवो के साथ न्याय करें, और स्वय द्वैतवन में जाकर पाडवो से मिले। वहा उन्होने युधिष्ठिर को प्रतिस्मृति नामक सिद्ध विद्या दी और

---

१. स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासं पर्वतं प्रति।
अप्रमत्तः स्थितो दान्त पृथिविं परिपालय॥
(सभापर्व ४६।१७)

उन्हे दूसरी जगह जाकर रहने की सम्मति दी। पांडव द्वैतवन को छोड़कर सरस्वती के किनारे काम्यकवन मे रहने लगे। उनके वनवास के बारह वर्ष समाप्त हो रहे थे। व्यास जी फिर उनके पास पहुंचे और युधिष्ठिर को नीतिमार्ग और आत्मसयम के धर्म का उपदेश देकर अपने आश्रम को चले गए। तेरहवें वर्ष के बाद जब युधिष्ठिर ने अपना राज्य वापस मागा, तब व्यास ने धृतराष्ट्र को समझाया। परन्तु काल के सामने बूढे और अंधे राजा धृतराष्ट्र तथा मनीपी वेदव्यास का एक भी उपाय सफल न हुआ। व्यास अपने ज्ञान चक्षु से काल की महिमा जानते थे। काल की दुर्धर्प सत्ता मे विश्वास उनके दर्शन का अभिन्न अग था, जिसे उन्होने कई जगह महाभारत मे प्रकट किया है—

> कालमूलमिदं सर्वं जगद्बीजं धनञ्जय।
> काल एव समादत्ते पुनरेव यदृच्छया।
> स एव बलवान् भूत्वा पुनर्भवति दुर्बलः।

(मौसलपर्व ८, ३३, ३४)

काल सबकी जड़ है, काल संसार के उत्थान का बीज है। काल ही अपने वस में करके उसे हडप लेता है। कभी काल बली रहता है, कभी वही निर्बल हो जाता है। समन्तपचक के सब क्षत्रियो का क्षय करनेवाले युद्ध को अपनी आखों से देख कर वेदव्यास ने काल की महिमा के ध्यान से ही अपने चित्त को धैर्य दिया था। जिस समय कुरुक्षेत्र मे दोनो ओर से भारतीय सेनाएं आ डटी, तब भी व्यास जी ने धृतराष्ट्र को समझाकर युद्ध रोकना चाहा। पर उनकी एक न चली। युद्ध के दिनो में भी वह जब तब अपने मंत्र से स्थिति को संभालते रहे और युद्ध के अन्त मे शोकमना धृतराष्ट्र को और युधिष्ठिर को समझा बुझाकर धैर्य बधाया। युधिष्ठिर को राज्य के लिए तैयार करके नीति, धर्म और अध्यात्म की शिक्षा के लिए भीष्म के पास भेजा और अश्वमेध करने की प्रेरणा की। युद्ध के सोलह वर्ष बाद वह धृतराष्ट्र से फिर हिमालय मे जाकर मिले और तप करने की सलाह देकर अपने आश्रम को

महाभारत सच्चे अर्थो मे प्राचीन भारतवर्ष का विश्वकोष है। संसार के साहित्य मे महाभारत एक दिग्गज ग्रन्थ है। इसकी तुलना मे यूनान के इलियड और ओडेसी अथवा आइसलैंड और स्कैंडिनेविया के प्राचीन एड्डा और सागा, जिसमे उत्तराखंड का बचा-खुचा गाथा शास्त्र[1] सुरक्षित है, बहुत पीछे छूट जाते है। महाभारत जहा एक ओर प्राचीन नीति और धर्म का अक्षय भंडार है, वही दूसरी ओर इसमे भारतीय गाथाशास्त्र की भी अनन्त सामग्री है। महाभारत को वेदव्यास ने अतीत की घटनाओं के नीरस क्रोड-पत्र के रूप में नही रचा, अन्यथा वह अब से कही पहले अन्य देशो के भारी भरकम ऐतिहासिक पोथो की तरह धूलि-धूसरित हो गया होता। महाभारत एक जीते-जागते चित्रपट के रूप मे सदा हमारे सामने रहा है, जिसके अर्थ का व्याख्यान अनगिनत सूत अपने-अपने आसनो से करते रहे है। आज भी व्यासगद्दी का उत्तराधिकार भारत के अपने साहित्यिक जगत् मे अक्षुण्ण बना हुआ है। आकाश में उडने वाले ज्ञान को पृथिवी के मानव की पहुच मे किस तरह लाया जा सकता है, इस प्रश्न का समाधान भारतवर्षीय व्यासगद्दी है। पश्चिम को यह शिकायत है कि उसका नया ज्ञान विशेषज्ञो के हाथ मे पडकर लोक से दूर जा पडा है। जीवन, मरण एवं सृष्टि और प्रलय के सबध मे जो विज्ञान के सशोधन है उनको जन साधारण के जीवन मे ढालने क साधन का विज्ञान के पास अभाव है। परन्तु भारतवर्ष मे सार्वजनिक शिक्षा के चमत्कारी विधानो मे व्यासगद्दी से कही जानेवाली कथाओं के द्वारा विशेषज्ञ और लोक के बीच की खाई पर पुल बनाने का सफल प्रयास होता आया है। इसी कारण रामायण, महाभारत और पुराणों के महान् चरित्रो की अमर कथाएं देश के कोने-कोने मे फैली हुई है। अपने पूर्वपुरुषो के चरित्रो को सुनने की जो हमारे मन मे स्वाभाविक उमंग है, वही हमारा सबसे उत्कट इतिहास प्रेम है। जनमेजय के शब्दो मे कह सकते है—

---

१. नार्डिक माइथालोजी।

वंशी कुलपति शौनक के बारह वर्षों के यज्ञ मे देखने मे आता है। यहां वक्ता और श्रोता दोनो नैमिषारण्य की सघन छाया मे शान्ति के साथ पर्याप्त अवकाश लेकर बैठे थे। इस समय भारत का उपबृहण महाभारत के रूप मे हो चुका था, चतुर्विंशतिसाहस्री संहिता बढकर शतशाहस्री बन गई थी। उसमें ययाति[1] और परशुराम जैसे बडे-बडे उपाख्यान स्वच्छन्दता से मिला लिए गए। बहुत सी कथाएं, जिन्हे हम बौद्ध जातको तक मे पाते हैं, लोक की चलती-फिरती सपत्ति थी, वे भा महाभारत मे मिला ली गईं। अनुशासन पर्व की पुष्करहरण की कथा (अ० ६३। ९४) और भिसजातक [स० ४८८] एक ही है। अनागत विधाता आदि तीन मछलियो की कहानी या राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिडिया की बाल कहानिया भी महाभारत के भीतर आ गईं। इसके अतिरिक्त शिव, विष्णु, सूर्य, देवी ओर गणपति की बढती हुई भक्ति के आवेश मे सम्प्रदायविदो ने महाभारत को अपनी कृपा का लक्ष्य बनाया। परन्तु इन सबसे बढकर अध्यात्म, धर्म और नीति के अनेक सवाद महाभारत में समय-समय पर मिलते गए। इन सब सम्मिश्रणो के कारण मूल ग्रन्थ का कायापलट हो गया। कुछ समय तक तो भारत और महाभारत का अस्तित्व अलग-अलग पहचानने मे आता रहा, परन्तु जैसा स्वाभाविक था, आगे चलकर केवल महाभारत ही आर्य सस्कृति के सबसे महान् ज्ञान-विज्ञान कोष के रूप में रह गया।

पूना संस्करण

प्रश्न यह है कि क्या फिर मूल भारत ग्रन्थ को महाभारत मे से अलग किया जा सकता है। क्या यह संभव है कि महाभारत के भीतर कालक्रम से जमी हुई विभिन्न साहित्यिक तहो को फिर से उलटकर हम कुछ उस पर्दे को हटा सकें जिसके पीछे नवीन ने प्राचीन भाग को छिपा रक्खा है। यह

---

१. व्याकरण साहित्य में इन उपाख्यानों का उल्लेख 'यायात' और 'आ.घिराम' नामों में किया गया है। (काशिका सूत्र ६।२।१०३)

प्रश्न हमारे राष्ट्रीय पाडित्य की कसौटी है। हर्ष की बात है कि यह भगीरथ कार्य पूना के 'भाडारकर प्राच्य विद्या संस्थान' की तरफ से आज लगभग बीस वर्षो से हो रहा है। महाभारत के इस सस्करण मे जहा तक मानवी बुद्धि और परिश्रम के लिए सम्भव है वहा तक महाभारत के उस मूल रूप का, यथासम्भव प्राचीनतम उद्धार करने का प्रयत्न किया गया है। डा० सुकथनकर इस कार्य के प्राण थे। इस दिशा मे उनका 'भृगु और भारत'[1] शीर्षक वृहत् निबन्ध स्तुत्य है। उससे यह ज्ञात होता है कि भृगुवशी ब्राह्मणो के द्वारा किये गए सपादन के फलस्वरूप शताब्दियो मे भारत को महाभारत का स्वरूप प्राप्त हुआ होगा। कुलपति शौनक स्वयं भार्गव थे। भारतवश से भी पहले उनकी जिज्ञासा भार्गववश की कथा के लिए प्रकट होती है—

तत्र वशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।

भार्गव शौनक का यह पक्षपात समग्र ग्रन्थ पर पडे हुए भार्गव प्रभाव का द्योतक है। औवोंपाख्यान (आदि०), कार्तवीर्योपाख्यान (वन०), अम्बोपाख्यान (उद्योग०), विपुलोपाख्यान (शान्ति०), उत्तकोपाख्यान (अश्वमेध०) का सबध भार्गवो से है। आदिपर्व के पहले ५३ अध्याय, जिनमें पौलोम और पौष्य पर्व है, भार्गव कथाओ से सबंध रखते है। भरतवंश की कथा उसके बाद चली है। शान्ति और अनुशासन पर्वो मे जो धर्म और नीतिपरक अश है, वे भी भृगुओ की प्रेरणा के फल है। यह सत्य है कि मूल भारतसहिता के उस शुद्ध रूप का जिसमें उसका आविर्भाव हिमवत् पृष्ठ के बदरी वन मे हुआ था, इस समय ठीक-ठीक उद्धार करने का दावा कोई नही कर सकता, फिर भी सहस्रो वर्षो की जमी हुई काई को हटाकर जितना भी परिष्कार किया जा सके श्रेयस्कर है। इस दृष्टि से पूना के भारत चिन्तको का कार्य राष्ट्रीय महत्त्व का है। महामति पुराणज्ञ डा० सुकथनकर इस कार्य मे हमारे अर्वाचीन उग्रश्रवा हुए।

---

[1] भंडारकर इंस्टीट्यूट की मुखपत्रिका भाग १८, पृ० १, ७६; 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग, ४५ पृ० १०५-१६२।'

साहित्यिक महत्त्व

महाभारत संस्कृत साहित्य का धुरधर ग्रन्थ है। उसका साहित्यिक तेज सर्वातिशायी है, 'एड्डा' और 'सागाओ' के लिए प्रख्यात लेखक कारलाइल ने लिखा है कि वे इतनी महान् कृतिया है कि उन्हे किंचित् स्वल्प कर देने पर शेक्सपियर, दाते और गेटे बन सकते है, यही बात हम महाभारत के लिए कह सकते है। भास, कालिदास, माघ, भारवि और श्रीहर्ष की साहित्यिक कृतियां महाभारत के ही अल्प विषयात्मक रूप है। यो भी महाभारत साहित्यिक शैलियो की खान है। उपाख्यान शैली, गल्प शैली, दर्शन और अध्यात्मक निरूपण की सवादात्मक शैली, प्रश्नोत्तर शैली (युधिष्ठिर-अजगर और युधिष्ठिर-यज्ञ प्रश्न, वनपर्व अ० १८०, ८१, अ० ३१३), केवल प्रश्नात्मक शैली (सभापर्व अ० ५, नारद प्रश्न से राजधर्मानुशासन), नीति ग्रन्थात्मक शैली (विदुरनीति, उद्योग० अ० ३३,४०), स्तोत्र शैलो,[1] सहस्रनाम शैली—इस प्रकार वर्तमान महाभारत मे साहित्यिक पद्धति के अनेक बीज पाये जाते है।

व्यास और राष्ट्र

पर हमारे राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए महाभारत का विशेष महत्त्व यह है कि वह प्राचीन भूगोल, समाजशास्त्र, शासन सम्बन्धी सस्था, नीति और धर्म के आदर्शो की खान है। वेद व्यास जिस भारत राष्ट की उपासना करते थे, भविष्य का हिन्दू उसका स्वप्न देखेगा, उनका निम्नलिखित राष्ट्रगीत हमारे इतिहास का सनातन मंगलाचरण होगा—

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च

---

१ जैसे महापुरुषस्तव (शान्ति अ० ३३८), कृष्णनाम स्तुति (शा० अ० १६१), भगवान्नाम निरुक्ति (शा० अ० ३४१) और कृष्णस्तवराज (शा० अ० ४७)। स्तोत्र और सहस्रनामों का संग्रह इन्ही दो पर्वों में अधिक है जो संदेहजनक है।

पृथोस्तु राजन्वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः ।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा ।
कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः ।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च ।
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम् ।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम् ।[1]

आओ, हे भारत, अब मैं तुम्हें भारत देश का कीर्तिगान सुनाता हूं । वह भारत, जो इन्द्रदेव को प्रिय है, जो मनु, वैवस्वत, आदिराज पृथु, वैन्य और महात्मा इक्ष्वाकु को प्यारा था, जो भारत ययाति, अम्बरीष, नहुष मुचकुन्द और औशीनर शिवि को प्रिय था, ऋषभ, ऐल और नृग जिस भारत को प्यार करते थे, और जो भारत कुशिक, गाधि, सोमक, दिलीप और अनेकानेक वीर्यशाली क्षत्रियसम्राटों को प्यारा था, हे नरेंद्र, उस दिव्य देश की कीर्ति कथा मैं तुम्हें सुनाऊंगा ।

1 भीष्मपर्व अ० ९ श्लो० ५, ९ । संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं।

2 राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते ।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ।
न योनिदोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक्पथः ।
मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥ (शा० अ० ६८)

मृतं राष्ट्रमराजकम्। (वन० ३१३।८४)

अराजक राष्ट्र मात्स्य न्याय का शिकार हो जाता है (शा० १६। १७)। व्यास ने राजा और क्षत्रिय की परिभाषा दी है। जो लोकरंजन करता है वही राजा है (शा० ५६।११) जो क्षत्र से बचाता है वही क्षत्रिय (शा० २९।१३८) है। इन्ही आदर्शों को हमारे इतिहास के स्वर्णयुग मे कालिदास ने दोहराया था।[1] भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा—राजा काल को बनाता है, या काल राजा को बनाता है, इसमें तुम कभी संशय मत करना। राजा ही काल को बनाता है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।

इति ते सशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्॥ (शा० ६९।६)

'जब राजा भली प्रकार दडनीति का पालन करता है। तभी सतयुग आ जाता है। राजा का आसन राष्ट्र का ककुद् है। राजा की उस आदर्श आसन्दी की रक्षा में रह कर प्रजा जिस धर्म का पालन करती है उसका एक चतुर्थ अश राजा को प्राप्त होता है। राजा को अपनी नीति में माली की तरह होना चाहिए, कोयला फूंकने वाले आगारिक की तरह नही। एक फूलो की चाह मे वृक्षो को पोसता है, दूसरा अगारो के लिए पेड़ों को फूंक डालता है। राजा का शरीर प्रजाएं है। अपने आपको बचाने के लिए भी राजा को प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। प्रजा का भी सर्वोत्तम शरीर राजा ही है। राजा को पुष्ट करके वे अपने आपको बढाती है। जो राष्ट्र की कामना करते हैं, उनको सबसे पहले लोक की रक्षा करनी चाहिए।' व्यास ने षोडषराजीय पर्व मे प्राचीन आर्य राजाओ के आदर्श का स्मरण दिलाया है। राम के राज्य में समय पर मेघ बरसते थे और सदा सुभिक्ष

---

१. क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ़ः। (रघुवंश २।५३)

तथैव सो भूदन्वर्थो राजा प्रकृति रंजनात्। (रघु० ४।१२)

अर्थात् रघु प्रकृतिरंजन के कारण सच्चे अर्थों में राजा कहलाये।

रहता था। दिलीप के राज्य में स्वाध्याय घोष, टंकार घोष और दान-संकल्प घोष, ये तीन शब्द बराबर सुनाई पडते थे। सक्षेप में वेद व्यास के मत के अनुसार लोक का सारा जीवन राजधर्म के आश्रित है। राजधर्म विगड गया तो वेद, धर्म, वर्ण, आश्रम, त्याग, तप, विद्या, सब कुछ नष्ट हुआ समझना चाहिए। (शान्ति पर्व ६३ । २८, २९)—

मज्जेत् त्रयी दडनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्यु' क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा. दीक्षा राजधर्मेषु युक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु चोक्ता. सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टा' ॥

व्यास जी उस राजनीतिक नेता का अधिकार नही मानते, जो स्वयं किसान का जीवन व्यीत न करता हो—

न न. स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत्कृषिम्।
(उद्योगपर्व ३६।३१)

'वह हमारी समिति का सदस्य नही वन सकता जो स्वयं कृषि नही करता।' जो खेतिहर किसान नही है, वह नेता धोखे की टट्टी है; जो स्वय हल की मुठिया नहीं पकडता वह कैसा नेता, किसका नेता? किसानों के देश के राजनीतिक जीवन की यही एक कसौटी हो सकती थी। उसे ही कई सहस्त्र वर्ष पूर्व व्यास जी ने लोक धर्म के निचोड की तरह पहचान लिया और इतने सरल शब्दो में कह डाला। यहा व्यास जी भारत के शाश्वत किसान को भाषा मे बोल उठे है—'जो स्वय धरती न जोते वह हमारी संसद् में बैठने योग्य नही।'

व्यास और धर्म

व्यास ने जो धर्म का स्वरूप रक्खा है वह उनका सबसे महान् ऋषित्व या दर्शन है। वे धर्म को स्वर्ग प्राप्ति कराने वाले थोथे कर्मो का जंजाल नही मानते। उन्होंने अपने ध्यान से धर्म की एक नई परिभाषा, एक नये स्वरूप का अनुभव किया—

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः (उद्योग० १३७।९)। व्यक्ति को, राष्ट्र को, जीवन को, संस्थाओं को, लोक और परलोक सबको धारण करने वाले जो शाश्वत सर्वोपरि नियम है, वे धर्म है।

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः ॥

धर्म स्वर्ग से भी महान् है। लोकस्थिति का सनातन बीज धर्म है। इस दृष्टि से देखने पर धर्म गंगा के ओजस्वी प्रवाह की तरह जीवन के सुविस्तृत क्षेत्र को सिंचित और पवित्र करने वाला अमृत बन जाता है। राजाओ की जय और पराजय आने-जाने वाली चीजें है। जीवन मे सुख और दुःख भी सदा एक से नही रहते। पर सम्पत्ति और विपत्ति मे भी जो वस्तु एकसी बनी रहती है, वह धर्म है। व्यास ने महाभारत संहिता लिखने के बाद उसके अन्त मे अपने दृष्टि-कोण और उद्देश्य का निचोड़ चार श्लोको मे दिया है, जिसे भारतसावित्री कहते है। उसका अन्तिम श्लोक यह है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतो. ॥
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये।
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

अर्थात् काम से, भय से, लोभ से, यहा तक कि प्राणो के लिए भी धर्म को छोडना ठीक नही, क्योकि धर्म नित्य है, सुख और दुःख क्षणिक है। इसी तरह जीव भी नित्य है, जन्म और मृत्यु अनित्य है। मै भुजा उठाकर कह रहा हूँ, पर कोई मेरी बात सुननेवाला ही नही है। 'धर्म से ही धन और काम मिलते है, उस धर्म का आश्रय क्यो नही लेते।' ये भारत सावित्री मे व्यास के साक्षात् वचन है।

यदि धर्म जीवन को धारण करनेवाला है और धर्म अच्छी चीज है, तो जीवन भी मूल्यवान् होना चाहिए। व्यास के धर्म मे जीवन रोने-धोने या माया समझकर खोने की चीज नही। उनकी दृष्टि में यह लोक कर्मभूमि

है, परलोक फलभूमि होगा। देवदूत ने मुद्गल से कहा—

कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमि रसौ मता।

(वन० २६१।३५)

वन मे पाडवो के पास जाकर स्वयं व्यास ने यह मत रक्खा था। वे इस लोक में कर्मवाद को मानते है। उसके साथ देववाद को भी मानते हैं और दोनो के ऊपर अध्यात्म ब्रह्म या आत्मतत्त्व में विश्वास रखते है। उन्होने जो दार्शनिक मत रक्खा है, उसमें मनुष्य सबके केन्द्र में है। व्यास का यह श्लोक स्वर्ण के अक्षरो में टाकने योग्य है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि

न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्॥

(शान्ति० १८०।१२)

अर्थात् यह रहस्य ज्ञान तुमको बताता हू—मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कुछ नही है। व्यास का यह मानव-केन्द्रिक (मैन ऐट दि सेन्टर आव यूनिवर्स) मत हमारे अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान और सामाजिक अध्ययन में भी सर्वत्र व्याप्त होता जा रहा है।

व्यास की परिभाषा के अनुसार कर्म मनुष्य की विशेषता है।

प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणा।

(अश्व० ४३।२०)

कर्म करने से जो प्रकाश जीवन मे आता है उसी से मनुष्य देव बन जाता है। आत्माभिमान के साथ मनुष्य शरीर रखने से ही सारे लाभ प्राप्त होते है।

पाणिवाद

व्यास ने मानवी पुरुषार्थ की श्रेष्ठता का उत्पादन करते हुए इन्द्र के मुख से पाणिवाद का व्याख्या कराया है। जिनके पास हाथ है, वे क्या नही कर सकते? जिनके हाथ है, वे ही सिद्धार्थ है। जिनके हाथ है, उनकी मैं सबसे अधिक सराहना करता हू। जैसे तुम धन चाहा करते हो, वैसे मैं

तो पाच अंगुलियोवाले हाथ चाहता हूं। पाणिलाभ से वढकर और कोई लाभ नही है।[1] जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही लाभ मिलता है, यही शास्त्रो का निचोड है—

यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्रनिदर्शनम्।

(शाति० २७९।२०)

किन्तु घनागम धर्म से होना चाहिए। व्यास जी के मन मे धर्म का ऊंचा स्थान है, उसके अनुसार न केवल अर्थ वरन् काम और मोक्ष भी घर्म पर आश्रित है और यह राज्य भी धर्ममूलक है—

व्यास जी ने नगद धर्म पर वल दिया है। वे कहते है—मनुष्य लोक मे ही जो कल्याण है उसे मैं अच्छा मानता हूं (मनुष्य लोकेयच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर, वनपर्व १८३। ८८)। व्यास जी की दृष्टि मे वह व्यक्ति अधूरा है जो लोक से दूर रहता है। 'जो मनुष्य स्वयं अपनी आखो से लोक का ज्ञान प्राप्त करता है, वही सव कुछ जान सकता है'—

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।

(उद्योगपर्व ४३।३६)

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलं नरेन्द्र राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति।

(वन० ४।४)

व्यास की दृष्टि मे लोक संग्रह और लोक धर्म वहुत मूल्यवान् पदार्थ है। आजगर मुनि को 'लोक धर्म विधानवित्' अर्थात् लोक धर्म के सिद्धान्त और संगठन का वेत्ता (शा० १७९।६) कहा गया है। जो व्यक्ति लोक-पक्ष का इतना समर्थक हो उसे गृहस्थ धर्म का प्रशंसक होना ही चाहिए।

---

1. अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणय।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः॥
पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य वै।
न पाणिलाभदधिको लाभ. कश्चन विद्यते॥

(शान्तिपर्व १८०।११, १२)

व्यास के अनुसार धर्म के द्वारा प्रवृत्त गृहस्थ आश्रम सब आश्रमो मे तेजस्वी मार्ग है, वह पवित्र धर्म है जिसकी उपासना करनी चाहिए।[1]

व्यास और अध्यात्म

लोक, गार्हस्थ्य और मनुष्य के लिए जिस महापुरुष के मन मे श्रद्धा है, जिसका दृष्टिकोण इन विषयो मे इतना मंजा हुआ है, उसका अध्यात्मशास्त्र भी तदनुकूल ही मानव को साथ लेकर चलता है। मनुष्य पंचेन्द्रियो से युक्त प्राणी है। इद्रिया ही मानव को देव या असुर बना देती है। व्यास के अध्यात्मशास्त्र का सार इन्द्रियो का निग्रह है—

आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रिय निग्रहात्।

(उद्योग० ६९।१७)

इन्द्रियो को रोकने के सिवाय आत्मा की उन्नति का दूसरा उपाय नही है। विषयो की ओर जाती हुई इन्द्रियो को वश में रखने से अध्यात्माग्नि प्रकाशित हो उठती है। जिस प्रकार इंधन के जलने से अग्नि चमक उठती है, उसी प्रकार इन्द्रियनिरोध से महानात्मा प्रकाशित होता है। डसने के भाव से सर्प जाने जाते है, दम्भभाव से असुर, दानभाव से देव और दमभाव से महर्षि पहचाने जाते है (आश्व० अ० २१)। वेदज्ञान का रहस्य सत्य भाषण में है। सत्य का उपनिषद् इन्द्रियदमन है, और दम का फल मोक्ष है—

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दम. ।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम् ॥

(शा० २९९।१३)

आत्मनिरोध के द्वारा जो व्यक्ति जीवन में अपना मार्ग विषयो से भरे हुए जंगल में स्वय निश्चित करता है, वह अपना ज्ञान औरो पर नही बघारता, बल्कि अपने आचार से औरो को उपदेश देता है। बोध्य ऋषि की कही हुई पुरातन गाथाओ को उद्धत करके व्यास ने यही कहा है—

---

१. सर्वाश्रमपदेप्याहुर्गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम्।
पावनं पुरुषव्याघ्र यं धर्मं पर्युपासते ॥

(शा० ६६।३५)

उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कंचन। (शा० १७८।६)
मै अपनी करनी से सिखाता हूं, कथनी से नही। वेदव्यास ऋजुभाव के मानने-वाले है। ऋजुभाव की उपासना ब्रह्मपद की प्राप्ति है. कुटिलता मृत्यु का पद है। इतना ही ज्ञान का सार है, और सब झूठी बकवाद है।[1]

कालधर्म

वेदव्यास के आध्यात्मिक दर्शन मे कालधर्म का बडा स्थान है। उनकी आखो ने समंत पचक मे हुए कुरु पाडवो के दारुण नाश को देखा। वड़े कुशाग्र बुद्धि और कल्याणाभिनिवेशी व्यक्ति इच्छा रहते हुए भी उस क्षय को नही रोक सके। यह कालचक्र की ही महिमा है। कर्म के साथ मिलकर काल ही संसार मे वहुत तरह के उलटफेर करता है (शा० २१३।१३)। काल के पर्यायधर्म के सामने सब अनित्य ठहरता है, कभी एक की बारी, कभी दूसरे की। महाभारत के अन्त में जो व्यक्ति स्त्रीपर्व को देखे, वह इसके सिवाय और क्या कह सकता है—

न च दैव कृतो मार्गः शक्यो भूतेन केनचित्।
घटतापि चिरं कालं नियन्तुमिति मे मतिः ॥

कोई प्राणी कितनी भी कोशिश करे, दैव के रास्ते को नही रोक सकता। यह दैव या उत्कट काल विश्व का नित्य विधान है। इसी का नामान्तर सनातन ब्रह्म है। वेदव्यास मानव जीवन की घटनाओ की ऊहापोह करते हुए उनके अन्तिम कारण की खोज में यही विश्राम लेते है। यह सच है कि मनुष्य विधाता के द्वारा निश्चित संसार के विधान को वदल नही सकता, पर इतना अवश्य कर सकता है कि उस सर्वोपरि शक्ति के रहस्यों का साक्षात्कार करके जीवन मे ऋजुभाव को अपना ले। वह यह भी कर सकता है कि इन्द्रियो के निरोध और आत्मचिंतन मे आत्म-जोति को इसी

---

१. सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतवान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति॥

(आश्व० ११।४)

शरीर मे प्राप्त कर ले। यह शरीर मूंज-घास है, आत्मा उसके भीतर की सींक है। जिस प्रकार मूंज से इषीका निकाली जाती है, वैसे ही योगवेत्ता शरीर में आत्मा का साक्षात्कार करते है। (आश्वमेध० १९।२२, २३)

व्यास की आज्ञा है कि जय नामक इतिहास सबको सुनना चाहिए। यह धुरंधर ग्रन्थ भारतीय चरित और ज्ञान की पूर्णतम वर्णपट्टिका है। इसके निर्माता की प्रज्ञा सूर्यरश्मियो की तरह विराट् है। सारा भारत राष्ट्र महामुनि वेदव्यास के लिए अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता है। हम भी हिमालय के शिलाप्रस्थ पर विराजमान वदरिकाश्रम के पुराण मुनि को प्रणाम करते है, जिनके पृथु नेत्रो मे हमारे ज्ञान का सारा आलोक समा गया था, जिनका शालस्कन्ध के समान उन्नत मेरुदड राष्ट्रीय मेरुदंड का प्रतीक था, जिनके चन्दनोक्षित कृष्णशरीर में हमारे शुभ आदर्श मानो राशिभूत होकर मूर्तिवान् हो उठे थे।

●

व्यास का मानवीय दृष्टिकोण

भारत के सांस्कृतिक दृष्टिकोण मे इहलोक और मानवीय जीवन का उसी प्रकार महत्त्व है जिस प्रकार परलोक और देवों का। वेदव्यास ने इस सम्वन्ध मे भारतीय मत का निचोड इस प्रकार कहा है —

मनुष्यलोके यच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर। (वनपर्व १७३।१७७)

"इस मनुष्य लोक या जीवन मे जो कल्याण है, उसे ही हम श्रेष्ठ या अच्छा समझते है।"

इससे भी बढ़कर व्यास की वह उक्ति है जिसमे उन्होने मानव केन्द्रिक मत का प्रतिपादन किया है—

नहि शप्तः प्रतिशपामि किंचिद्, दमं द्वारं ह्यमृतस्येह वेद्मि।
गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, न ह मानुषाच्छ्रेष्ठतर हि किञ्चत्॥
(शातिपर्व २७६।१२०)

"कोई मुझ पर रोप करे, मै उस पर रोष नही करता। सव प्रकार अपने आप को वश में रखना यही अमृत जीवन का द्वार है। यह अत्यन्त रहस्यमय ज्ञान तुमसे कहता हूँ कि मनुष्य से वढकर और कुछ नही है।"

गाधी जी के शब्दो मे–"मैन इज दी सुप्रीम कन्सीडरेशन।"

अर्थात् संसार में जितने प्रयत्न, योजनाएँ और आकांक्षाएं हैं, सत्र का मध्यवर्ती विन्दु मानव है, सव कुछ तभी सत्य है जव वह मानव के लिये हितकारी है। यही सवसे प्रमुख जीवन का सत्य है कि यहां देवो से भी वढकर मनुष्य है, मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नही है।

मानवीय जीवन में ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वय है। उसकी पूर्णता के लिये इस लोक की समृद्धि उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार अध्यात्म-भावों की साधना और सिद्धि।

इस जीवन के दो वडे खम्भे और है—एक वार्ता या अर्थशास्त्र और दूसरा राजशास्त्र या दण्डनीति। नीति में स्वीकार किया गया है—

सर्वारम्भा. तण्डुलप्रस्थमूलाः।

"जितने उद्योग हैं सब की जड में पाव भर चावल का बल है।" इससे वढकर स्पष्ट और मुहफट आर्थिक जीवन की और स्वीकृति क्या हो सकती है ? वेदव्यास ने अपनी उसी उदार वाणी से कहा—

वार्तामूलो ह्ययं लोकस्तया वै धार्यते सदा।
तत्सर्वं वर्तते सम्यग्, यदा रक्षति भूमिपः॥
(शान्तिपर्व ६७।३५)

इस लोक के जीवन का ठाठ अर्थशास्त्र की नीव पर खडा है और वही सदा इसे चालू रखता है। वह अर्थशास्त्र तभी ठीक चलता है जब राज्य-व्यवस्था ठीक हो।

जो राज्य की अभिलाषा करते है, उनका भी लोक की रक्षा के अतिरिक्त और कोई दूसरा धर्म नही है। जिस राष्ट्र में राज्य व्यवस्था नही, उसे मरा हुआ समझो।

पृथ्वी में दण्डधारी राजा न हो, तो जल में मछलियो की तरह बलवान् निर्बलो को खा डाले। ये प्रजाएं पार्थिव ब्रह्म का रूप हैं। प्रजाए ही राजा की अप्रतिम देह है—

प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम्।

इन प्रजाओ की रक्षा करने की प्रतिज्ञा करके ही राजा राज्य की वागडोर संभालता। प्रजाओ ने राजाओ से प्रतिज्ञा कराई—

प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व, मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत॥
(शान्तिपर्व ५८।११५)

"मन, कर्म, वचन से प्रतिज्ञा करो कि मै भौम ब्रह्म (पृथ्वी से सम्बन्वित प्रजारूपी ब्रह्म) का सर्वथा पालन करूंगा।" प्रजा और राष्ट्र

के लिये 'भौम ब्रह्म' यह अत्यन्त मौलिक विशेषण वेदव्यास की राजभाषा मे प्रयुक्त हुआ है। वस्तुत. दण्डनीति का सम्यक् परिपालन ही सत-युग है—

दण्डनीत्या यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तते ॥

(शान्तिपर्व ६९।७)

"धर्मनिष्ठ न्याययुक्त प्रजापालन ही कृतयुग है।" व्यास का यह वाक्य उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कालिदास की यह उक्ति कि धन-धान्य से भरा-पूरा राज्य स्वर्ग है—"ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहु.।" दोनो के मूल मे स्पष्ट ही मानवीय दृष्टिकोण और ऐहलौकिक जीवन की हितकामना है। राजा ही समय को बनाता है—राजा कालस्य कारणम् (शान्तिपर्व ६९।७)। यह वाक्य राज्य शक्ति को दुर्धर्प सत्ता की ओर हमारा ध्यान खीचता है। राजा के द्वारा जो जन-कल्याण सम्भव है वह अन्य किसी प्रकार सम्भव नही। जितने धर्म या जन-जीवन के सूत्र है, सबका अन्तर्यामी सूत्र राजधर्म है—

सर्व धर्माः राजधर्मे निविष्टा., सर्वे पदा हस्तिपदे निविष्टा ।

हाथी के पाव मे सबका पाव है। ऐसे ही राजधर्म मे सब धर्मो का अन्तर्भाव है। राजव्यवस्था ढीली पडती है तो धर्म-कर्म सब डूब जाते है, जाति के ज्ञान और सास्कृतिक आदर्शो की मर्यादाएं सब अस्त-व्यस्त हो जाती है—

मज्जेत् त्रयी दंडनीतौ हतायां, सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धा ।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हता. स्युः, क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ॥

(शान्तिपर्व ६३।२७)

त्याग और संन्यास के समस्त धर्म, सब प्रकार के जीवनव्रत, सेवा-दीक्षाएं, सब विद्याएं और समस्त लोक राजधर्म मे पिरोए हुए है—

सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः, सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु युक्ताः ।

सर्वा विद्या राजधर्मेषु चोक्ता, सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः ॥

(शान्तिपर्व ६३।२६)

इस प्रकार ऐहलौकिक राजधर्म का गौरव भारतीय सस्कृति के मानवीय दृष्टिकोण का आधार मूल अंग है। इस लोक के जीवन का अन्य आधार गृहस्थ आश्रम सब आश्रमो से श्रेष्ठ है और सबका प्रतिपालन करने वाला है—यह मानव धर्मशास्त्र का दृष्टिकोण है। वेद व्यास ने भी मनु के सुर में सुर मिलाते हुए गृहस्थ-आश्रमो की प्रशसा की है—

सर्वाश्रमपदेऽप्याह गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम्।
पावन पुरुषव्याघ्र य धर्मं पर्युपासते ॥

(शान्तिपर्व ६६।३५)

सब आश्रमो में गृहस्थ आश्रम का कर्म और संकल्प सबसे अधिक सशक्त और प्रकाशित है। सब लोग उसी पावन गृहस्थ धर्म की उपासना करते हैं। यहा गृहस्थ आश्रम को समाज के लिये पावन कहकर व्यास ने उसे जो महती श्रद्धाजलि अर्पित की है वह अभूतपूर्व है। इसी बुद्धि से वसिष्ठ सदृश ऋषियो ने गृहस्थ धर्म की साधना की थी, इसी प्रज्ञा से जनक सदृश राजर्षियो ने गृहस्थो के मार्ग का जीवन पर्यन्त निर्वाह किया और उसे अपने प्रातिभ ज्ञान एव औपनिषद अनुभव से अधिक तेजस्वी बनाया। वस्तुत. इन्द्रियनिग्रह, क्या गृहस्थ और क्या विरक्त सभी का महान् कल्याण करनेवाला मार्ग है—

आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रिय निग्रहात्।

(उद्योग० ६६।१७)

इन्द्रिय निग्रह को छोड दें, तो आत्मा को ऊचा उठाने के लिए अन्य कौन सा उपाय हमारे पास रह जाता है ?

भारत के मानवीय दृष्टिकोण में शारीरिक श्रम की महिमा भी सर्वोपरि है। कहा है—

उद्यच्छेदेव न ग्लायेद् उद्यमी ह्येव पौरुषम्।

(मातंग ऋषि का वाक्य)

सदा उद्यम करना चाहिए, कभी निराशा को मन मे न आने देना चाहिए। उद्यम ही पुरुष का पुरुषत्व है। जो कर्म करते है, उन्ही को जीवन मे जय मिलती है—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते. जयो मे सव्य आहितः ॥

"मेरे दाहिने हाथ में कर्म है, तो बाएं हाथ मे जय रक्खी हुई है।"

कर्म का ही दूसरा नाम पाणिवाद है। अर्थात् देव के दिए हुए दस अंगुलियोंवाले हाथों से रगड़कर श्रम करना। इस खेतिहर देश के निवासियो के लिये व्यास ने बहुत सोच-समझकर, पाणिवाद का संदेश दिया था। जिसके पास हाथ है, उन्ही की मै सराहना करता हूं। तुम भले ही धन की ओर ताका करो, मै तो इन हाथो की ओर देखता हूं। क्या पाणिलाभ से भी वढकर और कोई लाभ है ?

देव के दिए हुए दस अंगुलियोंवाले हाथ ही अर्वाचीन मानव की गर्वयोग्य पूंजी हैं। श्रम से जीवन को प्रतिष्ठित वनाने वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण वदल जाता है। वह अपने किए हुए कर्म का ही फल चाहता है, कर्म की योग्यता द्वारा ही उपार्जित फल का भोग चाहता है, भिक्षा या दूसरे की कृपा को वह अपमान समझता है।

सत्यात्मक वेद का ज्ञान इतना ही है कि जो लाभ हमे हो वह स्वाभिमान के साथ हो, अप्रतिष्ठा के मार्ग से हम किसी वस्तु की चाह न करें। भिखमंगों का मार्ग या लुटेरों का मार्ग स्वाभिमानी व्यक्ति कभी पसन्द नही करते, चाहे उससे कितना ही लाभ क्यो न हो।

"श्रम से अर्जित लाभ" यह दृष्टिकोण कितना अर्वाचीन और सीधा सच्चा है। ययाति जव स्वर्ग के द्वार पर पहुंचे तो देवो ने पूछा—"आपको किस लोक मे ले चलें ?" ययाति ने मानवीय सतुलन रखते हुए कहा—

अहं तु नाभिगृह्णामि, यत्कृतं न मया पुरा।

(मत्स्यपुराण ४२।२१)

"मै किसी भी वस्तु को नही चाहता जिसके लिये मैने पहले कर्म न किया हो"। "यथा कर्म तथा लाभ" का नितान्त मानवीय सिद्धान्त यही है।

महापुरुष श्रीकृष्ण

भारतवर्ष के जिन महापुरुषो का मानव जाति के विचारो पर स्थायी प्रभाव पडा है, उनमें श्रीकृष्ण का स्थान प्रमुख है। आज से लगभग पाच सहस्र वर्ष पूर्व एक ही समय में दो ऐसे व्यक्तियो का जन्म हुआ, जिनके उदात्त मस्तिष्क की छाप हमारे राष्ट्रीय जीवन पर बहुत गहरी पडी है। संयोग से उन दोनो का नाम 'कृष्ण' था। समकालीन इतिहास लेखक ने दोनो मे भेद करने के लिए एक को 'द्वैपायन कृष्ण' कहा है, जिन्हें आज सारा देश महर्षि वेदव्यास के नाम से जानता है, और जिनके मस्तिष्क की अप्रतिहत प्रतिभा से आज तक हमारे धार्मिक जीवन और विश्वासो का प्रत्येक अंग प्रभावित है। दूसरे देवकी पुत्र वासुदेव कृष्ण थे, जिन्हें हम अब केवल 'कृष्ण' के नाम से पुकारते है। कृष्ण की बाल लीलाओ के मनोरम आख्यान, उनके गीताशास्त्र के महान् उपदेश तथा महाभारत के युद्ध मे उनके विविध आर्योचित कर्मों की कथाए आज घर-घर में प्रचलित है। असख्य मनुष्यो का जीवन आज कृष्ण के आदर्श से प्रभावित होता है। वस्तुत हमारे साहित्य का एक बडा भाग कृष्णचरित्र से अनुप्राणित हुआ है। कृष्ण के जीवन की घटनाएं केवल अतीत इतिहास के जिज्ञासुओ के कुतूहल का विषय नही है, वरन् वे धार्मिक जीवन की गतिविधि को नियन्त्रित करने के लिए आज भी भारतीय आकाश मे चमकते हुए आकाश दीप की तरह सुशोभित और जीवित है।

जन्म और बालजीवन

अष्टमी, बुधवार, रोहिणी, इस प्रकार के तिथि वार नक्षत्र योग मे आधी रात के समय अपने मामा औग्रसेनि कस के वन्दीगृह में कृष्ण का जन्म हुआ। इसी एक बात से उस काल के राजनीतिक चक्र का आभास मिल

जाता है। जिस व्यक्ति के जन्म के भय से ही उसके माता-पिता की स्वतंत्रता छीन ली गई थी, क्या आश्चर्य यदि उसके जीवन का अधिकाश समय देश के राजनीतिक काटो को साफ करने और प्रजा को अत्याचार और उत्पीडन से मुक्त करने में व्यतीत हुआ हो। उस काल के जो भी उच्छृंखल, लोकपीडक सत्ताधारी थे, उन सबसे ही एक-एक करके कृष्ण की टक्कर हुई। जिस महापुरुष ने योग-समाधि के आदर्श को लेकर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने का उपदेश दिया हो, जिसका अपना जीवन अविचल ज्ञान-निष्ठा का सर्वोत्तम उदाहरण हो, उसके ही जीवन मे कसनिपात से लेकर यादवो के विनाश तक की कथा अत्यन्त करुण कहानी के रूप में पिरोयी हुई है।

कृष्ण का बालजीवन तो एक काव्य ही है। जन्म से लेकर, अथवा उससे पूर्व ही, उनके संबंध के अतिमानवी चरित्रो का क्रम आरम्भ हो गया था। उनके वृन्दावन छोडकर मथुरा आने के समय तक ये बाल लीलाएं आकाश मे एकत्र होने वाली सुन्दर सुखद मेघमालाओ की भाति नाना वर्ण और रूपो मे संचित होती रही। बिना कहे ही उन्हें हम जानते है। हमारे देश के बालवर्ग के लिए तो उन कथाओ की रसमय सामग्री अत्यंत प्रिय वस्तु है। यमुना नदी और उसके समीप के पीलु के विटपो पर लहलहाती हुई लताओं के कुंजों मे कृष्ण के बाल चरित्रो की प्रतिध्वनि आज भी जीवित काव्य कथाएं है। यही पर उन्होने उस मल्ल-विद्या का अभ्यास किया, जिसके कारण आगे चलकर मुष्टिक और चाणूर जैसे पहलवान पछाडे गए। यमुना के कछारो मे ही उस संगीत और नृत्य का जन्म हुआ, जो हमारी सस्कृति की एक प्रिय वस्तु है। यही गोवंश की वृद्धि और प्रति-पालन के वे प्रयत्न किए गए, जिनका पुनरुद्धार हमारे कृपिप्रधान देश के लिए आज भी प्राप्तव्य आदर्श के रूप मे हमारे सामने है।

राजनितिक चरित्र

इन रमणीय बालचरित्रो की सुखदायी भूमिका तैयार करने के बाद

श्रीकृष्ण ने एक दूसरे ही प्रकार के जगत् मे प्रवेश किया। उनका वृन्दावन छोडकर मथुरा में आना उस जगत् का देहली द्वार है। यहा जीवन के कठोर सत्य उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके द्वारा सबसे पहला परिवर्तन शूरसेन जनपद की राजनीति में हुआ। उग्रसेन के पुत्र लोकपीड़क कस को राज्यच्युत करके कृष्ण ने उग्रसेन को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। इस समय वे और उनके बडे भाई बलराम दोनो किशोरावस्था में पदार्पण कर चुके थे। यमुना के तट पर प्रकृति के विश्वविद्यालय मे स्वच्छन्द वायु और आकाश के साथ मिलकर ग्वाल-बालो के बीच में उन्होने जीवन की बडी तैयारी कर ली थी, परन्तु मस्तिष्क की साधना का अवसर अभी तक उन्हें नही मिल सका था। इस कमी का पूरी करने के लिए वे सान्दीपिनि मुनि के गुरुकुल में प्रविष्ट हुए। कुल पुरोहित गर्गाचार्य और अवन्ती के विद्याचार्य सान्दीपिनि इन दो नामो का भगवान् कृष्ण के साथ बडा मधुर सम्बन्ध है। अवश्य ही गीता के प्रवक्ता को अपने ज्ञान का प्रथम बीज आर्ष ज्ञान परम्परा की रक्षा करने वाले तपस्वी ब्राह्मणो से प्राप्त हुआ था।

जैसे ही सान्दीपिनि मुनि ने विद्या समाप्त करके कृष्ण को 'सत्यं वद धर्मं चर' वाला अपना अन्तिम उपदेश देकर बिदा किया, वैसे ही परिस्थिति ने उसका सबध हस्तिनापुर की राजनीति से मिला दिया। वसुदेव और उग्रसेन कृष्ण-बलदेव को लेकर कुरुक्षेत्र स्नान के लिए गए हुए थे। वही कुन्ती भी पाडवो के साथ आई थी। बस यही कृष्ण और पाडवो के बीच उस घनिष्ठ सबध का सूत्रपात हुआ, जिसके कारण आज तक हम योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ का एक साथ स्मरण करते हैं। कसवध के समय ही कृष्ण अपनी राजनीतिक प्रवृत्ति का परिचय दे चुके थे। हस्तिनापुर की राजनीति के साथ सपर्क होने के बाद उस प्रवृत्ति को और भी उत्तेजना मिली। उन्होने यह अनुभव किया कि इस समय देश में एक बडा प्रबल सगठन उन राजाओ का है, जो भारतीय राजनीति की प्राचीन लोकपक्षीय परम्पराओ के विरुद्ध निरंकुश होकर राजशक्ति का प्रयोग करते है और जिनके कारण प्रजा में क्षोभ और कष्ट है। कृष्ण का बाल-

जीवन लोक की गोद में पला था। वे स्वयं यादव जाति की अन्वक वृष्णि शाखा के, जो एक गणराज्य (रिपब्लिक) था, सदस्य थे। इसी कारण उनकी सहानुभूति स्वभावतः लोक के साथ थी। जैसे-जैसे कारण उपस्थित होते गए, एक-एक अत्याचारी शासक से उनका संघर्ष हुआ। मगध की राजधानी गिरिव्रज मे बली जरासंध का वध कराकर उन्होंने उसके पुत्र जरासंधि सहदेव का अभिषेक किया। महाभारतकार ने लिखा है कि उस समय पृथ्वी पर जरासंध का आतंक था, केवल अन्धक-वृष्णि और कुरुवंशी क्षत्रियों ने उसकी अधीनता स्वीकार नही की थी। इन्ही दोनों घरानो ने मिलकर उसका अन्त किया। चेदि जनपद मे शिशुपाल का एकछत्र शासन था। शिशुपाल दुर्योधन की राजनीति का समर्थक था। दुर्योधन की शक्ति को निर्बल बनाने के लिये जरासंध और शिशुपाल का बध करके माहिष्मती की गद्दी पर उसके पुत्र धृष्टकेतु को बैठाया। नग्नजित् के पुत्रों को हराकर गंधार देश को अनुकूल किया। बलिष्ठ पाड्यराज को मल्लयुद्ध में अपने वक्ष स्थल की टक्कर से चूर कर डाला। सौभ नगर मे शाल्वराज को वशीभूत किया। सुदूर पूर्व के प्राग्ज्योतिप दुर्ग में भौम नरक का निरकुश शासन था, जिसने एक सहस्र कन्याओ को अपने बन्दीगृह मे डाल रखा था। उसकी निर्मोचन नामक राजधानी में सेना सहित मुर और नरक का वध करके कामरूप प्रदेश को स्वतंत्र किया। बाणासुर, कलिंगराज और काशिराज इन सबको कृष्ण से लोहा लेना पडा और सभी उनके बुद्धि कौशल के आगे परास्त हुए।

कृष्ण की राजनीतिक बुद्धि अद्भुत थी। अर्जुन ने कहा था कि युद्ध न करने पर भी कृष्ण मन से जिसका अभिनन्दन करें वह सब शत्रुओं पर विजयी होगा। 'यदि मुझे वज्रधारी इन्द्र और कृष्ण में से एक को चुनना पडे, तो मै कृष्ण को लूंगा।' आर्य विष्णुगुप्त चाणक्य को भी अपनी बुद्धि पर ऐसा ही विश्वास था। कृष्ण का मंत्र अमोघ था। जहां कोई युक्ति न हो, वहाँ कृष्ण की युक्ति काम आती थी। धृतराष्ट्र की धारणा थी कि जब तक रथ पर कृष्ण, अर्जुन और अधिज्य गाडीव धनुप, ये तीन तेज एक साथ

है, तब तक ग्यारह अक्षौहिणी भारती सेना होने पर भी कौरवो की विजय असम्भव है।

महाभारत का युद्ध भारतीय इतिहास की एक अति दारुण घटना है। इस प्रलयकारी युद्ध में दुर्योधन की ओर से गधार, वाल्हीक, कम्बोज, केकय, सिन्धु, मद्र, त्रिगर्त (कागडा), सारस्वतगण, मालव, और अग आदि देशो के क्षत्रिय प्रवृत्त हुए। युधिष्ठिर की ओर से विराट, पचाल, काशि, चेदि, सृंजय, वृष्णि आदि वंशो के क्षत्रिय युद्ध के लिए आये। ऐसे भयंकर विनाश को रोकने के लिए कृष्ण से जो प्रयत्न हो सकता था, उन्होने किया। वे पाडवो की ओर से समस्त अधिकार लेकर सधि के लिए हस्तिनापुर गए[1]। वहाँ उन्होने धृतराष्ट्र की सभा मे जो तेजस्वी भाषण दिया, उसकी प्रतिध्वनि आज भी इतिहास में गुजायमान है—

कुरूणां पांडवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणामेतद्याचितुमागत ॥

अर्थात् कौरवो और पाडवो में वीरो का नाश हुए विना ही शान्ति हो जाय, मैं यही प्रार्थना करने आया हूँ।

धृतराष्ट्र ने कहा—'हे कृष्ण, मैं सब समझता हूँ, पर तुम दुर्योधन को समझा सको तो प्रयत्न करो'।

कृष्ण ने दुर्योधन से कहा—'हे तात, शान्ति से ही तुम्हारा और जगत् का कल्याण होगा' 'शमे शर्म भवत्तात' (उद्योगपर्व १२४, १९)।

---

१ 'भारतीय राजनीति की परिभाषा के अनुसार दूत तीन तरह के होते हैं, एक 'विसृष्टार्थ' जो देशकाल की आवश्यकता के अनुसार अपने उत्तरदायित्व पर राजकार्य को बनाने का सब अधिकार रखते हैं, दूसरे 'संदिष्टार्थ' जो संदेश या उक्त वचन को ले जाकर कहते हैं, और तीसरे 'शासनहर' जो लिखित पत्र या 'शासन' ले जाते हैं। पाडवो ने कृष्ण को प्रथम कोटि का अर्थात् विसृष्टार्थ दूत बना कर भेजा था, जिन्हे उनकी तरफ से अपने ही उत्तरदायित्व पर चाहे जिस प्रकार की संधि या निर्णय करने के सब अधिकार प्राप्त थे।

दुर्योधन ने सब कुछ सुनकर कहा—

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विद्धयेदग्रेण केशव,
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पांडवान् प्रति।
(उद्योग० १२७, २५)

अर्थात् 'हे कृष्ण, सुई की नोक के बराबर भी भूमि पांडवो से लिए मैं नही छोड सकता।' बस यही युद्ध का अपरिहार्य आह्वान था। दैव की इच्छा के सामने भीष्म और द्रोण जैसे नररत्नों की भी रक्षा न हो सकी।

अन्धक वृष्णि गणराज्य के प्रधान

महाभारत मे हमे कृष्ण का परिचय एक विशिष्ट रूप मे मिलता है। यादव क्षत्रियो की दो प्रधान शाखाएँ अन्धक और वृष्णिसंज्ञक थी। कृष्ण वृष्णि वंश के थे। अक्रूर अन्धक थे। वृष्णि गणराज्य की ऐतिहासिक सत्ता का प्रमाण एक प्राचीन सिक्के से प्राप्त होता है, जिस पर 'वृष्णि राजन्यगणस्य त्रातारस्य' इस प्रकार का लेख है। इससे ज्ञात होता है कि विक्रम संवत् के प्रारम्भ तक वृष्णि लोगो का शासन एक गण या संघ के रूप मे था। पाणिनि की अष्टाध्यायी और बौद्ध साहित्य मे भी अन्धक वृष्णियो का उल्लेख है। महाभारत सभापर्व (अ० ८१) से मालूम होता है कि अन्धक और वृष्णियों का एक सम्मिलित संघराज्य था। इसे श्रीयुत जायसवाल ने उनकी 'फेडरल पार्लमेंट' के नाम से पुकारा है। इस सम्मि-लित संघ मे वृष्णियों की ओर से कृष्ण और अन्धको की ओर से बभ्रु उग्रसेन संघ प्रधान चुने गए थे। इसीलिए महाभारत की राजनितिक परि-भाषा मे कृष्ण को ऐश्वर्य का अर्धभोक्ता राजन्य कहा गया है। सघसभा में राजनीति के चक्र भी चलते रहते थे। वृष्णियो की ओर से सघसभा में आहुक और अन्धकों की ओर से अक्रूर सदस्यो का नेतृत्व करते थे। कभी-कभी दोनो पक्षो से बहुत उग्र भाषण दिए जाते थे। पारस्परिक कलह से खिन्न होकर एक बार कृष्ण भीष्म से परामर्श करने हस्तिनापुर पधारे थे। तब भीष्म ने उनसे यही कहा—'हे कृष्ण, मधुर वचन रूपी एक 'अनायस' शस्त्र है, तुम उसीके प्रयोग से जातियो को वश मे करो।

समभूमि पर सब चल सकते है, पर विषम भूमि पर बोझा ढोना आसान नही। हे कृष्ण, तुम्हारे जैसे प्रधान को पाकर यह गणराज्य नष्ट न होना चाहिए।' हम जानते है कि कृष्ण के प्रयत्न करने पर भी अन्त में तीक्ष्ण भाषण के कारण ही यादवो का आपस मे लडकर विनाश हो गया।

सोलह कला का अवतार

कृष्ण को हमारे देश के जीवन-चरित्र-लेखको ने 'सोलह कला का अवतार' कहा है। इसका तात्पर्य क्या है? यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओ को नापने के लिए भिन्न-भिन्न परिमाणो का प्रयोग किया जाता है। दूरी के नापने के लिए और नाप है, काल के लिए और है, तथा बोझे के लिए और है। इसी प्रकार मानवी पूर्णता को प्रकट करने के लिए कला की नाप है। सोलह कलाओ से चन्द्रमा का स्वरूप सपूर्ण होता है। मानवी आत्मा का पूर्णतम विकास भी सोलहो कलाओ के द्वारा प्रकट किया जाता है। कृष्ण में सोलह कला की अभिव्यक्ति थी, अर्थात् मनुष्य का मस्तिष्क मानवी विकास का जो पूर्णतम आदर्श बना सकता है, वह हमें कृष्ण मे मिलता है। नृत्य, गीत, वादित्र, सौन्दर्य वाग्मिता राजनीति, योग अध्यात्म, ज्ञान, सबका एकत्र समवाय कृष्ण में पाया जाता है। गोदोहन से लेकर राजसूय यज्ञ में ब्राह्मणो के चरण धोने तक तथा सुदामा की मैत्री से लेकर युद्धभूमि मे गीता के उपदेश तक उनकी ऊँचाई का एक पैमाना है, जिस पर सूर्य की किरणो को रग-बिरगी पेटी (स्पैक्ट्रम) की तरह हमे आत्मिक विकास के हर एक स्वरूप का दर्शन होता है।

कृष्ण के उच्च स्वरूप की पराकाष्ठा हमारे लिए गीता में है। सब उपनिषद् यदि गौएं है, तो गीता उनका दूध है। इस देश के विद्वान् किसी ग्रथ की प्रशसा मे इससे अधिक और क्या कह सकते थे? गीता विश्व का शास्त्र है, उसका प्रभाव मानवजाति के मस्तिष्क पर हमेशा तक रहेगा। ससार मे जन्म लेकर हममे से हरएक के सामने कर्म का गम्भीर प्रश्न बना ही रहता है। जीवन कर्ममय है, संसार कर्मभूमि है। गीता उसी कर्मयोग का प्रतिपादक शास्त्र है। कर्म का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है और

किस प्रकार उस सम्बन्ध का निपटारा करने से मनुष्य अपने अन्तिम ध्येय और शान्ति को प्राप्त कर सकता है, इन प्रश्नों की सर्वोत्तम मीमांसा काव्य के ढंग से गीताकार ने की है। अतएव यह ग्रंथ न केवल भारतवर्ष वल्कि विश्व साहित्य की वस्तु है।

कृष्ण भारतवर्ष के लिए एक अमूल्य निधि हैं। उनका हर एक स्व-रूप यहाँ के जीवन को अनुप्राणित करता है। जिस युग मे इन्द्रप्रस्थ और द्वारका के बीच उनका किंकिणीक रथ वलाहक, मेघपुष्प, शैव्य और सुग्रीव नामक अश्वो के साथ झनझनाता रहता था, न केवल उस समय कृष्ण भारतवर्ष के शिरोमणि महापुरुष थे, वल्कि आज तक वे हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि बने हुए हैं। जिस प्रकार पूर्व और पश्चिमी समुद्रो के बीच के प्रदेश को व्याप्त करके गिरिराज हिमालय पृथ्वी के मानदंड की तरह स्थित है, उसी प्रकार ब्राह्मधर्म और क्षात्रधर्म इन दो मर्यादाओ के बीच की उच्चता को व्याप्त करके श्रीकृष्ण चरित्र पूर्ण मानवी विकास के मानदड की तरह स्थिर है।

महाभारत में साहित्यिक शैलियां

महाभारत सस्कृत वाड्मय का एक धुरन्धर ग्रंथ है। प्राचीन इतिहास, धर्म, अध्यात्म, दर्शन, नीति, राजशास्त्र, पुराणोपाख्यान, जीवन-चरित आदि समस्त विषयो के सागोपाग वर्णन के लिए महाभारत एक अद्भुत खान है। जिन्होने आद्यंत महाभारत का सावधान-मन से पारायण किया है, वे जानते है कि इसके सम्बन्ध मे इस प्रकार की प्रतिज्ञा कि जो कुछ महाभारत के अर्न्तगत आ गया है, वही बाहर है, और जो विपय इसमें नही है वह बाहर भी नही मिलता कुछ मिथ्या कल्पना नही है। आर्य-जाति के पुरावृत्त-विषयक अनुसधान के सभी राजमार्ग महाभारत में ही पर्यवसान को प्राप्त होते हुए पाए जायँगे।

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य एक विशेष दृष्टिकोण को लेकर—अर्थात् महाभारत की साहित्यिक शैलियो की ओर—आपका ध्यान आकर्षित करना है।

महाभारत एक बहुत ही विशाल ग्रथ है। उस में अठारह पर्व और लगभग एक लक्ष श्लोक हैं। इन पर्वों में से कुछ तो कथा-भाग के विकास के लिए ही प्रधानतया रचे गये है, जिनमें विशेष कर युद्ध-सम्बन्धी भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्यपर्व हैं, परन्तु कुछ एक की रचना का सम्बन्ध जय-इतिहास की कथा के सूत्र को अग्रसर करने के साथ नहो के बराबर है। उनकी रचना का उद्देश्य पुराकालीन भारतीय दर्शन, अध्यात्म, और धर्म के गहनतम तत्त्वो के विवेचन को प्रस्तुत करना था। उद्देश्य-भेद से साहित्यिक शैलियो में भेद होना भी स्वाभाविक है। इसीलिए शाति और अनुशासन पर्वों में जो निरूपण-शैली है वह भीष्म और द्रोण पर्वों की केवल वर्णनात्मक शैली से नितान्त भिन्न है।

महाभारतकार की साहित्यिक प्रतिभा एक शब्द में 'विराट्' कही जा

सकती है। विराट् पुरुष सहस्रशीर्षा और सहस्राक्ष कहा गया है। इस रमणीय वैदिक कल्पना का उपयोग महाभारतकार की प्रतिभा के दिग्दर्शन के लिए भी किया जा सकता है। मनुष्य की विचार-शक्ति महाभारत के गूढ प्रस्तरों को चीरती हुई जितनी अधिक उसके भीतर पैठती है, उतना ही अधिक उस पर भारतकार की विश्वतोमुखी प्रतिभा का प्रभाव पडता है। कितने अधिक उपायो से भारतकार ने अपने वर्णनो की रोचकता और उपादेयता को वढाया है, इसका अध्ययन साहित्यिक दृष्टि से मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद भी होगा।

पहले तो यह जान लेना चाहिए कि महाभारत के वर्तमान रूप को देखते हुए उस पर पुराण के सब लक्षण घटित होते है। यद्यपि महाभारत को प्रारम्भिक किंवदन्ती के अनुसार अद्यावधि इतिहास ही कहा जाता है, तथापि—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च
वंशानुचरितं च पुराणं पचलक्षणम्।

इस श्लोक में कहे गए पुराण के सब प्रसिद्ध लक्षण वर्तमान महाभारत पर पूर्णतया घटित होते है। ज्ञात होता है कि मूल इतिहास-परायण ग्रंथ को पुराण की परिभाषा के अनुसार सुसंस्कृत और परिवर्द्धित किया गया। इसका श्रेय भारतवर्ष की विशेष दार्शनिक प्रतिभा को है जिसके कारण यहाँ सभी प्राचीन ग्रंथो में किसी न किसी अंश तक पुराण का पुट देने का आयोजन किया गया। पुराण बन जाने के कारण ही मानो महाभारत ने प्राचीन काल के समस्त आख्यान, उपाख्यान, गाथा, नाराशंसी और अनु-व्याख्यानादिक को आत्मसात् करने के लिए अपना विशाल तोरण-द्वार उन्मुक्त रूप से खोल दिया। यही कारण है कि महाभारत में वैदिक काल के प्रायः सभी प्रधान अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत-परक उपाख्यानों का समावेश हो गया है। उदाहरण के लिए कर्णपर्व (अ० ३३,३४) की त्रिपुरासुर कथा, द्रोणपर्व (अ० २०२) का त्रिपुरवधाख्यान, वनपर्व की

च्यवनसुजि कथा, शल्यपर्व का (अ० ३६) त्रित-उपाख्यान इसी कोटि के हैं। विशेष कर आदिपर्व का गरुडोपाख्यान जिसमें गरुड के स्वर्ग से अपनी माता विनता या सुपर्णी की मुक्ति के लिए अमृत के घट लाने का वर्णन है, एक अत्यन्त प्राचीन वैदिक उपाख्यान का नवीन प्रकार से उपबृहण है। सहिताओ में तथा ऐतरेय और शतपथादि ब्रह्मणो में महासुपर्ण गायत्री के स्वर्ग से या द्युलोक से अमृत अथवा सोम लाने का बहुत ही तत्त्वगर्भित वर्णन पाया जाता है। 'इतिहास-पुराणाभ्या वेदं समुपबृहयेत्' की आज्ञा का अनुसरण कर के ही मानो महाभारत के प्रणेता ने उस कथा का अत्यन्त पल्लवित सस्करण आदिपर्व की पक्षिराजगरुड की कथा में हमारे सामने रक्खा है। यही महाभारतकार की प्रथम शैली है जिसे हम उपाख्यानशैली के विशिष्ट नाम से पुकार सकते है।

(१) उपाख्यान-शैली—इस शैली के अवलम्बन से व्यास जी ने समस्त प्राचीन उपाख्यानो का अपने ग्रथ में सन्निवेश करके मानव-जाति को सदा के लिए ऋणी बना दिया है। प्राचीन गाथाशास्त्र के प्रेमी सदा इस के लिए उनके कृतज्ञ रहेंगे। नारवे, आइसलैड आदि उत्तराखण्ड-वर्ती देशों की प्राचीन गाथाओ के विद्वान् आज मुक्तकठ से सीमंड और उसके पौत्र स्नोरी की प्रतिभा का गुणगान करते है जिन्होने आर्यों के वंशज ट्यूटन कहलाने वाले लोगो की प्राचीन कथाओ का सग्रह ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी के लगभग किया। सीमड ने 'पोएटिक एड्डा' के नाम से सब उपाख्यानों को एकत्र किया, तदनन्तर उसके पौत्र स्नोरी स्टर्लेसान ने जिसका जन्म सन् ११७९-११८१ के बीच हुआ और जो पीछे से आइसलैड का प्रेसीडेंट भी बन गया था, उन सब कथाओ का गद्य-रूप मे एक अतययत उत्कृष्ट संस्करण तैयार किया। आज यही बात हम व्यास-शुक-रोमहर्पणि के लिए भी कह सकते है जिन्होंने सीमंड और स्नोरी से सहस्रो वर्ष पहले आर्यों के विराट् गाथा-वाड्मय को अपने काव्य के साथ गूँथ कर उसे सदा के लिए अमर कर दिया। इसी कारण महाभारत वेद और पुराणो के उपाख्यानो का अक्षय भडार बना हुआ है। 'एड्डा' और 'सागाओ' के लिए प्रख्यात

लेखक कारलाइल ने लिखा है कि यह इतनी महान् कृतियाँ है कि उन्हें किंचित् स्वल्प कर देने पर शेक्सपियर, दाते, गेटे बन बन जायँगे।

शेक्सपियर, दाते और गेटे के स्थान पर भास, कालिदास, माघ, भारवि और हर्ष का नाम रख देने से ये ही उद्‌गार ठीक वेद-व्यास जी के लिए घटित होते है। महाभारत के शाकुंतलोपाख्यान, पुरूरवाख्यान, इसके उदाहरण है। उपाख्यान शैली के ही अवातर भेद-रूप से हम उन उपाख्यानो को ले सकते है जिनका सम्बन्ध वैदिक साहित्य से तो न था, पर जिनकी परम्परा प्राचीन जनश्रुति मे बहुत पुरानी थी। जैसे सावित्री-सत्यवान्, नलदमयन्ती, कच-देवयानी और विदुला की (उद्योग० १३३ अ०) कथाएँ जिनके सौदर्य से मुग्ध होकर महाभारतकार ने हर्षपूर्वक उनका स्वागत किया। वनपर्व का रामचरित (अ० २७४–२९१) और सगर-चरित (१०६–१०९ अ०) भी इसी कोटि के है।

(२) गल्प-शैली—महाभारतकार की गल्प-शैली का अध्ययन भी विशेष उपादेय है। हमारी सम्मति मे महाभारतकार संसार के सब से उत्कृष्ट गल्पकार है। वेद-व्यास की लिखी हुई गल्पो मे जितनी प्राणशक्ति और अमरता है उतनी सम्भवतः अन्य किसी गल्प-लेखक को कृतियों मे नही मिल सकती। 'अत्राप्युदाहरंतीममितिहासं पुरानतम्' का उपक्रम करके सैकडों की संख्या मे अत्यन्त ओजस्वी गल्पो की सृष्टि की गई है। यह निस्संदेह कहा जा सकता है, कि विश्व के गल्प-साहित्य में नकुलोपाख्यान जैसी उदात्त या प्रथम श्रेणी की गल्पें विरले ही मिल सकती है। हम कह सकते है संभवतः नही है। प्रथम तो मानव-हृदय की धर्मिष्ठ और न्याय अभिलाषाओं द्वारा वैभव और ऐश्वर्य की अर्चना की गई, फिर उससे भी ऊपर उठकर सर्वस्वदक्षिण यज्ञ द्वारा युधिष्ठिर ने बची-खुची मानवता को छोडकर दिव्यभाव की प्राप्ति अश्वमेध के अवभृथ स्नान मे की। परन्तु वेद-व्यास की प्रतिभा आदर्श की खोज मे उसका भी मर्षण नही कर सकी। युधिष्ठिर के दान की स्तुति करते हुए ऋषियो और ब्राह्मणों की बुद्धि पर

पड़े हुए मोह-[illegible] को पानी की काई की तरह नकुलोपाख्यान द्वारा उन्होने [illegible] कर दिया। जिस आदर्श की उपासना में सहस्रो ऋषियो ने अपनी ह[illegible]ला दी थी, उसी की रक्षा करके वेद-व्यास जी ने अपनी लेखनी को कृतकृत्य समझा। उन्होने सोचा कि यदि ब्राह्मण भी धर्म की गरिमा को सुवर्ण के वट्टो से तोलने की भूल करने लगेंगे तो फिर धर्म-प्रतिष्ठा के युगमडित स्तम्भ चलायमान हो उठेंगे। परन्तु जव तक ब्राह्म-तेज अक्षुण्ण है तव तक ऐसा नही हो सकता। इस वित्त-मोह वाली कीचड़ से पार उतरने का सेतु ही नकुलोपाख्यान का उपदेश है। महाभारत की अनेकानेक उत्तम गल्पो का रसास्वादन तो उनका पृथक् सग्रह करने से ही प्राप्त हो सकता है। शातिपर्व के १३७ वें अध्याय में अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्नमति और दीर्घ-सूत्री इन तीन मछलियो की कहानी और अध्याय १३८ में वर्णित विडाल-मूपिक-संवाद की कहानिया उस श्रेणी की है जिससे भारतवर्ष के विशाल कहानी-साहित्य का विकास हुआ है। पाली जातक, पंचतत्रादि कथा-ग्रंथो के प्रारम्भिक रूप यही देखने को मिलते है। शान्तिपर्व अध्याय १३९ में पूजनी चिडिया और ब्रह्मदत्त राजा की कहानी राजनीतिशास्त्र के स्थायी दृष्टातो में से है। शान्तिपर्व अध्याय १७७ में वर्णित मकि मुनि और उनके दो वैलो की कथा जितनी छोटी है उतनी ही अधिक मर्मस्पर्शी है। विपरीत भाग्य को वहोरने के लिए अपना सर्वस्व वेच कर मकि ऋपि ने दो वैल मोल लिए, उनको लेकर जव वे खेती करने चले तव सडक पर वैठे हुए ऊंट को देखकर वैल विदक कर भागे। ऊंट भी उनसे भड़क कर रस्से में वधे हुए उन दोनो को अपनी गर्दन में टाग कर उछालता हुआ भागा, तव दुखित और कातर होकर मंकि ने पुकारा—

मणीवोष्ट्रस्य लम्वेते प्रियौ वत्सतरौ मम।

इस उक्ति की करुणा केवल अनुभवगम्य है। यह कहानी एक असाधारण साहित्यिक की असाधारण कृति है। स्वल्पाक्षरो में ही दैव और पौरुप के वलावल का मर्मवेधी चित्र खीच दिया गया है। मकि रोकर पुकार उठते है—

शुद्धं हि दैवमेवेदं हठे नैवास्ति पौरुषम् । शांति० १७७।१२

अर्थात् यह दैव का खेल है, हठवश किया हुआ पौरुष कुछ काम नहीं देता ।

(३) दर्शन और अध्यात्म के निरूपण की संवादात्मक शैली—इस का प्रसिद्ध उदाहरण भगवद्गीता (भीष्मपर्व) है । अश्वमेधपर्व का गुरु-शिष्य-संवाद या अनुगीतापर्व (अश्वमेध० अ० १६ से ५१ तक) भी इसका उत्तम उदाहरण है । भगवद्गीता का संग्राम-भूमि मे उपदेश हुआ । अनुगीता इंद्रप्रस्थ में विहार करते हुए कृष्णार्जुन के सवाद का संग्रह है। पहली का निश्चित लक्ष्य है, वह सुसंग्रथित है । दूसरी का उद्देश्य कालयापन है, इसीलिए उसकी शैली शिथिल है। अर्जुन ने स्वयं कहा कि पहले आपने मुझसे जो सब कहा था वे सब विषय चित्तभ्रंश होने के कारण मुझे भूल गए, उन्हें फिर सुनाइए। पर फिर वह बात कहा ! कृष्ण ने अत्यत शोक प्रकट करते हुए कहा, "तुमने अज्ञान से जो मेरे कहे हुए वचनों को ग्रहण नही किया, वह मुझे बहुत अप्रिय लगा है, क्योकि आज मेरी वह स्मृति फिर प्रकट न हो सकेगी। आज तो पुरातन इतिहास मै तुमको सुनाता हू ।" वह इतिहास ही अनुगीता है । परन्तु अध्यात्म-ज्ञान की दृष्टि से यह अनुगीता भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । इसमे ब्राह्मण अर्थात् मन और ब्राह्मणी-अर्थात् बुद्धि के संवाद-रूप में वाक् और मन का सवाद, पच-प्राणो का संवाद, दश-प्राणो या इंद्रियो का संवाद, सप्त-प्राणो का संवाद आदि अत्यन्त रोचक रीति से वैदिक प्राणविद्या का उपबृंहण और अध्यात्म-शास्त्र के अन्य अनेक तत्त्वो का विवेचन है । इन वर्णनों में बहुत ही सरस साहित्यिक पुट पाया जाता है ।

दार्शनिक विवेचन के विशेष रूप मे लिखा हुआ एक प्रकरण सनत्सुजातीय है जो सनत्सुजात ऋषि और धृतराष्ट्र के सवाद-रूप मे है (उद्यो०, अ० ४२ से ४६ तक)। इस प्रकरण की महिमा इसी से जानी जा सकती है कि इस पर भगवद्गीता की तरह ही शंकराचार्य ने भाष्य लिखा है, और महाभारत के टीकाकार नीलकंठ ने भी इस पर स्वतन्त्र ग्रंथ की तरह बहुत

जानने के लिए जो प्रश्न किए है वे इसके उदाहरण है। उस अध्याय का नाम 'नारदप्रश्नमुखेन राजधर्मानुशासन' है (सभापर्व, अ० ५)। इस शैली का साहित्यिक विकास अत्यन्त आवश्यक है।

(६) नीतिग्रथ कथन—संस्कृत साहित्य में चाणक्य-नीति, कामंदकीय-नीति, शुक्रनीति, आदि ग्रंथो द्वारा नीति कहने की एक विशेप परिपाटी रही है। इन सबका प्रारभ महाभारतातर्गत उद्योगपर्व के विदुरनीति ग्रथ (अ० ३३–४०) से माना जा सकता है। वस्तुत. भर्तृहरि आदि के नीतिशतक भी इसी परिपाटी के अन्तर्गत है। शतक-रचना का भाव भी इसी प्रकार से उत्पन्न हुआ। शतको मे नीति का संग्रह ही रहता था; हाँ नीतिविषयक श्लोको के स्थान पर श्रृंगारात्मक श्लोको के शतक भी प्रचलित हुए।

(७) स्तोत्र या स्तुति द्वारा अभिधेय अर्थ को प्रकट करना—कालातर के संस्कृत और भाषा साहित्य मे भी स्तोत्रो का यथेष्ट प्रचार पाया जाता है। भागवत तथा रामचरितमानस दोनो मे ही स्तुतियों के पारायण की शैली पाई जाती है, पर इस का सवसे से अधिक साहित्यिक और परिष्कृत रूप महाभारत मे ही देखा जाता है। कुछ उदाहरण ये है—नारदकृत महापुरुषस्तव (शातिपर्व, अ० ३२८); युधिष्ठिरकृत कृष्ण-नामस्तुति (शाति०, अ० ४३); भीष्म-प्रोक्त भगवन्माहात्म्य (अनुशासन० अ० १५८): व्यासोक्त शतरुद्रिय (अनुशासन० अ० १६१); भगवन्नामनिरुक्ति (शान्ति० अ० ३४१)। पर साहित्यिक दृष्टि से इन सवसे विशिष्ट स्तोत्र भीष्मकृत कृष्णस्तवराज हैं (शान्तिपर्व, अ० ४७)। यह भीष्म जी का अन्त समय का भगवत्स्मरण है, और इसमे निस्संदेह व्यास जी की लेखनी की पूरी चमक देख पडती है। इसके कुछ असामान्य श्लोक ये है—

महतस्तमस' पारे पुरुषं हतितेजसम्।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः॥
यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे।
यं विप्रसंघाः गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः॥